10:22

44

इकाई-1 भारतीय प्रशासन का विकास

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय प्रशासन विकास
  1.2.1 मौर्य प्रशासन
    1.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन
    1.2.1.2 मंत्री परिषद
    1.2.1.3 नौकरशाही
    1.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त
    1.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन
    1.2.1.6 स्थानीय प्रशासन
    1.2.1.7 नगर प्रशासन
    1.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रांसगिकता
  1.2.2 मुगल प्रशासन
    1.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन
    1.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन
    1.2.2.3 स्थानीय प्रशासन
    1.2.2.4 मनसबदारी प्रथा
    1.2.2.5 जागीरदारी प्रथा
  1.2.3 ब्रिटिश प्रशासन
    1.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास
    1.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास
    1.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास
    1.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास
    1.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास
1.3 सारांश
1.4 शब्दावली
1.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

यद्यपि लोक प्रशासन एक अध्ययन के विषय के रूप में नवीन विषय है, जिसका जन्म 1887 में वुडरो विल्सन की राजनीति-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप हुआ, तथापि लोक प्रशासन एक कार्य

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

या प्रक्रिया के रूप में सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही दिखाई देता है। जब से सभ्यता का अस्तित्व है, तब से मानव के विकास हेतु निरंतर संगठित प्रयास होते रहे और सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही प्रशासन का अस्तित्व भी देखने को मिलता है।

भारतीय परिवेश में भी प्रशासन का विकास प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय प्रशासन अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। भारतीय प्रशासन अपने वर्तमान रूप में विरासत और निरंतरता का परिणाम है, जिसके विकास की कड़ियां किसी न किसी रूप में अतीत से जुड़ी हुई है। हालांकि वर्तमान भारतीय शासन प्रणाली मूल रूप से ब्रिटिश काल की देन मानी जाती है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मौर्यकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मुगलकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- ब्रिटिश शासन में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।

1.2 भारतीय प्रशासन विकास

वी0 सुब्रह्मण्यम के अनुसार वर्तमान प्रशासनिक प्रक्रिया का सिलसिला सदियों तक विचारों का रहा, न कि संस्थाओं का। संस्थागत सिलसिला अंग्रेजों के शासनकाल की देन है। भारतीय प्रशासन के विकास में मौर्यकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनकी विस्तार से चर्चा करते हैं-

1.2.1 मौर्य प्रशासन

मौर्य प्रशासन, भारतीय इतिहास में दिलचस्पी का विषय है। मौर्य प्रशासन का अध्ययन पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, अर्थात इसकी स्थिति वैदिक कबायली संरचना और सामांतवादी युग के बीच की है। मौर्यकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की तथा एक विशाल साम्राज्य पर मौर्य शासकों ने शासन किया। इस विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अनेक ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इंडिका, अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा अपने गुरू और प्रधानमन्त्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन प्रणाली का प्रारम्भ किया गया, उसके अनेक तत्व वर्तमान प्रशासन में भी दृष्टिगोचर होते हैं। मौर्य प्रशासन के दौरान निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। पहला- यह एक अति केन्द्रीकृत प्रशासन था, जिसकी पहुँच नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में थी। इसकी चिंता बाजार-व्यवस्था के नियंत्रण से लेकर नागरिक जीवन में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा तक थी। दूसरा- यह एक नौकरशाही पर आधारित प्रशासन था, जिसमें सबल एवं निर्बल दोनों पक्ष थे। तीसरा- वस्तुतः मौर्य प्रशासन कोई नवीन प्रशासन नहीं था वरन् नंद शासकों की पद्धति का ही एक विकसित रूप था अर्थात् केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नंद शासकों के समय ही शुरू हो गयी थी।

1.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन

मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद होगया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका,

विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

राजा अब केवल दूरस्थ संरक्षक नहीं वरन् जनता का एक निकट संरक्षक बन गया। राजशक्ति निरंकुश पितृसत्तावाद पर आधारित थी। अशोक ने स्पष्ट रूप से अपने धौली शिलालेख में घोषणा की "कि सारी प्रजा मेरी संतान है।" अर्थात मौर्य शासक जनता के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। राजा अब न केवल धर्मशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। बल्कि अर्थशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। अर्थशास्त्र में राजा की विवेकशीलता पर बल दिया गया, अर्थात् राजा न केवल पुराने कानूनों का पालन करवा सकता था वरन् प्रशासनिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर नए कानूनों का निमार्ण भी कर सकता था और फिर परंपरागत कानून तथा राजा के कानून में किसी प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न होने की दशा में राजा का कानून ही ज्यादा मान्य होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशासन के प्रत्येक पहलू में राजा का आदेश या विचार ही सर्वोपरि है।

अर्थशास्त्र में राजा के कर्त्तव्यों का भी निर्धारण किया गया। अर्थशास्त्र ने इस बात पर बल दिया, कि राजा को किसी भी समय कर्मचारियों एवं जनता की पहुँच से परे नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर गड़बड़ी एवं असंतोष फैलेगा और राजा शत्रुओं का शिकार हो जाएगा। मेगस्थनीज का भी कहना है कि मालिश करवाते समय राजा से विचार विमर्श के लिए मिला जा सकता है। अशोक के शिलालेख भी इस बात की पुष्टि करते है। अर्थशास्त्र में राजा के कुछ आवश्यक गुण भी निर्धारित किए गये, जिसके अनुसार जनसाधारण, राजा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त राजा को दैवीय बुद्धि व शक्ति वाला, वृद्धजनों की बात सुनने वाला, धार्मिक व सत्यवादी होना आवश्यक है।

1.2.1.2 मंत्री-परिषद

सिद्धान्त के रूप में मौर्य काल में राज्य की संपूर्ण शक्ति राजा के हाथों में ही केन्द्रित थी, किन्तु व्यवहार में अनेक प्रतिबन्धों के कारण राजा की शक्ति की निरंकुशता सीमित थी विशाल मंत्री-परिषद व प्राचीन परंपराओं के पालन ने मौर्य शासकों की निरंकुशता पर सदैव अंकुश लगाए रखा। राजा को अपने कर्त्तव्यों के निवर्हन में सहायता हेतु एक मंत्री-परिषद होती थी। अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में मंत्री-परिषद का जिक्र है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्यरूपी रथ केवल एक पहिए(राजा) के द्वारा नहीं चल सकता। अतएव दूसरे पहिए के रूप में उसे मंत्री-परिषद की आवश्यकता होती है।

मंत्री-परिषद एक परामर्शदात्री निकाय थी, जिसकी शक्ति राजा एवं मंत्रियों की परस्पर स्थिति पर निर्भर करती थी। सामान्यत: राजा के समानान्तर मंत्री-परिषद की शक्ति कमजोर थी और राजा मंत्री-परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। राजा के समानांतर मंत्रियों की स्थिति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि राजा अपने मंत्री को स्वयं नियुक्त करता था। मेगस्थनीज के अनुसार राजा के सलाहकार एक विशेष जाति से नियुक्त होते थे। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भली भाँति जाँच के बाद किया जाता था।

अर्थशास्त्र में मंत्रियों के कुछ गुण निर्धारित किए गये अर्थात उनमें उच्चकुल में जन्म, वीर, बुद्धिमान, ईमानदारी जैसे गुण होने चाहिए। मंत्री-परिषद से 3-4 मंत्रियों की एक छोटी उपसमिति भी बनती थी जो राजा को कुछ विशिष्ट बातों में परामर्श देती थी। कौटिल्य ने नीति निर्धारण की गोपनीयता पर बल दिया है। मंत्री-परिषद का अपना सचिव होता था, जिस पर उसके कार्यालय की देखभाल का भार था। कौटिल्य ने उसे मंत्री-परिषद अध्यक्ष कहा है। डॉ0 आर0सी0 मजूमदार ने मौर्यकालीन मंत्री-परिषद की तुलना इंग्लैण्ड की प्रिवि कौंसिल से की है।

1.2.1.3 नौकरशाही

मंत्री-परिषद व राजा के द्वारा मुख्यतः नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था। तत्पश्चात् उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन नौकरशाही अत्यधिक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित थी। प्रशासन के संचालन में कौटिल्य ने 18 तीर्थों (अधिकारियों का नाम) एवं 27 अध्यक्षों की भूमिका पर बल दिया है। मौर्यकाल में प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गयी थी, जिन्हें तीर्थ कहते थे। प्रत्येक विभाग के संचालन व निरीक्षण के लिए अध्यक्ष होता था। एक महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिकारी सन्निधाता अर्थात् कोषाध्यक्ष होता था। वह केन्द्रीय खजाने का प्रभारी होता था। वह एक दूसरे महत्वपूर्ण अधिकारी समाहर्त्ता से मिलकर कार्य करता था। समाहर्त्ता भू-राजस्व की वसूली से जुड़ा हुआ था। युवराज, राजा का उत्तराधिकारी होता था। मंत्री सर्वोच्च सलाहकार था। पुरोहित शासकीय तथा धार्मिक मामलों में राजा का परमर्शदाता था।

अर्थशास्त्र में राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोतों की चर्चा की गयी है, जैसे भूमि, खनन, जंगल, सड़क आदि। महत्वपूर्ण राजकीय खर्च- वेतन, सार्वजनिक कार्य निमार्ण, सड़क एवं कुएें, विश्रामगृह, सिचाई से संबंधित कार्यों में होता था। अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय कोष एवं राजा के व्यक्तिगत कोष में कोई अन्तर नहीं किया गया था।

1.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

कौटिल्य के अनुसार राज्य एक आवश्यक और अनिवार्य संस्था है। राज्य की स्थापना के बिना समाज में अराजकता तथा मत्स्य न्याय की स्थापना हो जाएगी तथा शक्तिशाली, दुर्बल को अपने हित का साधन बना लेगा। कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में विश्वास करता है। राजा व प्रजा के बीच समझौते के परिणामस्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। चूँकि राज्य, व्यक्ति के लिए हितकारी संस्था है। अतः व्यक्ति की निष्ठा एवं आस्था राज्य में होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात अंग हैं, जिन पर राज्य की व्यवस्था, स्थिरता और अस्तित्व निर्भर करता है। ये सात अंग हैं- राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोषालय, सशस्त्र सेना तथा मित्र। राज्य के इन भागों में सावयव एकता होती है।

राजा, राज्य का प्राण है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा धर्म का रक्षक होता है। उसमें निर्भयता, आत्मनियंत्रण, निणर्य लेने की क्षमता तथा विचार करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि राजा अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार नहीं करता, तो वह आदर योग्य नहीं है। अयोग्य राजा को पद से हटा देना चाहिए।

राजा के बाद पदसोपान में दूसरा स्थान अमात्य का आता हैं। वह आजकल के मंत्रिमंडलीय सचिव के समान शासकीय अधिकारियों में सबसे उच्च अधिकारी होता था। अमात्य प्रशासन सम्बन्धी बातों को देखता था। राजा कुशल, बुद्धिवान तथा निर्णय लेने की क्षमता वाले व्यक्ति को अमात्य पद के लए चयन करता था।

जनपद, राज्य का तीसरा अंग था। इसमें भूमि-भाग के साथ साथ क्षेत्र में रहने वाले लोगों भी सम्मिलित होते थे। कौटिल्य के आनुसार श्रेष्ठ जनपद वह है जो प्राकृतिक सीमाओं जैसे नदी, पहाड़, जंगल में बसा हो। जनपद की भूमि उपजाऊ होनी चाहिए तथा रहने वाले लोग मेहनती, बुद्धिमान, वफादार होने चाहिए।

दुर्ग भी राज्य का एक अनिवार्य अंग था। राज्य की स्थिरता और युद्धों में सुरक्षा के लिए दुर्ग की भूमिका अह्म होती थी। दुर्ग में पर्याप्त खाद्य सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, पानी, दवाईयां आदि का रहना आवश्यक था, जो समय पर काम आ सके।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

कोष व कोषालय भी राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य था। मौर्यकाल में वित्त की व्यवस्था बेहतर थी। विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त राशि कोषालय में एकत्रित होती थी। विभिन्न खर्चों के लिए बजट में व्यवस्था होती थी। आपात स्थितियों से निपटने के लिए आपात निधि की आवश्यकता थी।

सेना की राज्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। कौटिल्य ने मौर्य सेना के संगठन तथा सैन्यशास्त्र का व्यापक चित्रण किया है। सैनिकों से राज भक्ति, साहस, बहादुरी की अपेक्षा की जाती थी। सीमा विस्तार पर विशेष ध्यान होने की वजह से सेना राज्य का आवश्यक अंग थी।

मित्र से तात्पर्य मित्र राज्यों से था। राज्य की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं या नहीं।

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के अस्तित्व एवं स्थिरता हेतु राज्य के सात अंगों पर आधारित होने की बात कहीं इन अंगों के बीच उचित संतुलन अनिवार्य था।

1.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन

मौर्यकाल में संपूर्ण साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में किया गया था। पाँच प्रान्तीय राजधानियां प्रमुख थी तथा उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, अवंति राज्य की राजधानी उज्जैन, कलिंग प्रांत की राजधानी तोसली, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्त की राजधानी पाटलिपुत्र। ये पाँच महत्वपूर्ण एवं बड़े प्रान्त थे तथा इनके अधीन छोटे छोटे प्रान्त भी थे। बड़े प्रान्तों का प्रशासक राजकुल का होता था। अशोक के फरमानों में उन्हें कुमार या आर्यपुत्र कहा गया है। अर्थशास्त्र में इस बात की चेतावनी दी गयी कि कुमार या आर्य पुत्र खतरे का कारण हो सकता है। इसलिए उसे राज्य पर सम्पूर्ण नियंत्रण नहीं होना चाहिए। प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रान्तीय मंत्रिपरिषदों को यह स्वतन्त्रता थी कि वह प्रान्तीय प्रशासक को सूचित किए बिना राजा को महत्वपूर्ण सूचना प्रेषित कर सकती है। इस बात की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है। किन्तु क्षेत्रीय स्तर पर मौर्य प्रशासन में कुछ स्वायत्तता प्रदान की गयी थी, अर्थात संबंधित क्षेत्र के व्यक्ति को ही उस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त किया जाता था। उदाहरण के लिए रुद्रदमन के जूनागढ़ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि काठियावाड़ का शासक यौनराज तुशाष्क था।

1.2.1.6 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों का विभाजन विभिन्न जिलों में किया गया था। जिले को विषय या आहार कहा जाता था। जिला प्रशासन से जुड़े तीन पदाधिकारी थे- प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त। प्रादेशिक नामक अधिकारी कानून एवं व्यवस्था को बनाऐ रखने और भू-राजस्व की वसूली से जुड़े हुए थे, जबकि रज्जुक नामक अधिकारी विशेष रूप से न्यायिक कार्यों से जुड़े हुए थे। रज्जुक की नियुक्ति ग्रामीण जन कल्याण के उद्देश्य से की जाती थी। उसके अतिरिक्त युक्त का कर्त्तव्य सचिव एवं लेखा संबधी काम देखना था। अशोक के अभिलेखों में इन अधिकारियों की चर्चा की गयी है।

जिला एवं ग्रामीण प्रशासन के बीच एक और प्रशासनिक इकाई थी। जो संभवतः पाँच या दस गांवों का समूह होती थी। इसका महत्वपूर्ण अधिकारी गोप होता था, जिसका काम सामान्य प्रशासन की देख-रेख करना था। गोप के अतिरिक्त स्थानिका नामक अधिकारी भी होता था जिसका मुख्य कार्य कर की वसूली था। वह सीधे प्रादेशिक के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानिका आधुनिक सहायक कलेक्टर और प्रादेशिका जिला कलेक्टर के समान थे और ये दोनों अधिकारी समाहर्त्ता या चीफ कलेटर के अधीन होते थे।

सबसे निचले स्तर पर ग्रामीण प्रशासन था जिसका प्रधान मुखिया होता था। वह ग्रामीण वृद्धजनों में से निर्वाचित होता था। छोटे गांवों में मुखिया ही एक मात्र अधिकारी होता था किन्तु बड़े गावों में मुखिया की सहायता के लिए

लेखपाल एवं लिपिकों की नियुक्ति की जाती थी और अधिकारियों का वेतन या तो भू-राजस्व से या फिर भूमि प्रदान करके पूरा किया जाता था।

1.2.1.7 नगर प्रशासन

मौर्यकाल में नगर प्रशासन का अपना श्रेणीबद्ध संगठन था। नगर प्रशासन का प्रधान नगरक नामक अधिकारी होता था। अशोक के एक अभिलेख में नगर-व्यवहारिक की चर्चा की गयी है। नगरक या नगर निरीक्षक का काम नगर कानून व्यवस्था बनाए रखना था। आकाल पड़ने पर गोदामों से अनाज बंटवाने का काम भी नगरक करता था। इस नगरक नामक अधिकारी की सहायता एवं मंत्रणा के लिए समाहर्ता एवं प्रादेशिका नामक अधिकारी होते थे। मेगस्थनीज के इंडिका में विस्तार से पाटलिपुत्र के नगर प्रशान की चर्चा की गयी है। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के प्रशासक के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियां होती थी, जिनके कार्य एवं कार्त्तव्य निम्नलिखित थे- उद्योगों व शिल्पों का निरीक्षण, विदेशियों की देखभाल, जन्म-मरण का पंजीकरण, वाणिज्य व्यापार की देखभाल, सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण और बिक्री कर संग्रह।

1.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रांसगिकता

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर किया गया सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। यद्यपि अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से लोक प्रशासन के सिद्धान्त नहीं रखे गये हैं, लेकिन इसमें वर्णित सरकारी कार्यप्रणाली महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने एक कल्याणकारी प्रशासन की बात की थी। राजा को प्रजा के हित के लिए कार्य करना चाहिए। उसे प्रजा को पुत्र की भाँति पालना चाहिए, क्योंकि 'प्रजा हिते, हिते राज्ये, प्रजानाम च सुखे सुखम्'। अर्थात प्रजा के हित में ही राज्य का हित है और प्रजा के सुख से ही राज्य सुखी है। कल्याणकारी प्रशासन के साथ ही कौटिल्य ने सुशासन की बात की है, अर्थात जनता की सारी सुविधाओं को सरकार द्वारा मुहैया कराया जाना चाहिए। क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार उन्हें संसाधन उपलब्ध कराना राष्ट्र का दायित्व है।

कौटिल्य ने राजस्व संग्रहण के सन्दर्भ में उचित करारोपण को महत्व दिया है। करारोपण राज्य की आवश्यकता व प्रजा की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, उसके अनुसार उचित करारोपण की व्यवस्था वैसी ही होनी चाहिए, जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं। कौटिल्य ने जट को जनता को खुशहाली की गारंटी देती है। कौटिल्य का कथन है कि सभी उद्यम वित्त पर निर्भर है अतः कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

कौटिल्य का विचार है कि राजा का लोकसेवक कोषागार रक्षक मात्र होना चाहिए। प्रशासन के नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायपालिका के दायरे में नहीं आते, किन्तु निजी गुप्तचर व्यवस्था तथा विदेश सम्बन्धी आदि विषयों पर कौटिल्य के द्वारा दिए गये विचार वर्तमान भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ में पर्याप्त रूप से प्रासंगिक है।

1.2.2 मुगल प्रशासन

मुगल प्रशासन, जिसने प्रशासन को एक नयी दिशा दी,का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के आधार पर करते हैं-

1.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है।

मुगल बादशाह बहुत शानो-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। उनको बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनकी इच्छा ही कानून थी। तुर्की मंगोल परम्परा से ही मुगल प्रशासन को केन्द्रीकृत प्रशासन की अवधारणा विरासत में प्राप्त हुई थी। वैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि अकबर के समय केन्द्रीकृत तुर्की मंगोल परम्परा में संशोधन किया गया। इन सबके उपरान्त भी राजा का जीवन नियमों से बंधा हुआ था और यह माना जाता था कि जनता की भलाई में ही राजा की भलाई है। कुरान में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि प्रजा के कल्याण का पूरा उत्तरदायित्व राजा के कंधों पर है। केन्द्रीय प्रशासन के संचालन हेतु राजा के द्वारा निम्नांकित पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी-

1. **वकील या वजीर-** वकील सम्पूर्ण प्रशासन का पर्यवेक्षण करता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था, यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
2. **दीवाने-आला या दीवने-कुल-** दीवाने आला वित्तीय शक्तियाँ रखता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था। यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
3. **मीर बख्शी-** यह साम्राज्य का सर्वोच्च भुगतान अधिकारी होता था क्योंकि मुगलकाल में मनसबदारी प्रथा प्रचलित थी तथा सैनिक एवं असैनिक सेवाओं का एकीकरण किया गया था। इसलिए यह साम्राज्य के सभी अधिकारियों को भुगतान करता था। यह मनसबदारों की नियुक्ति की सिफारिश करता था और उनके लिए जागीर की अनुशंसा करता था।
4. **दीवाने-शामा/खान-ए-शामा-** यह राजकीय कारखनों का निरीक्षण करता था तथा राजकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन कारखानों के उत्पादन को नियंत्रित करता था।
5. **सद्र-उस-सूद्र-** यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।
6. **मुख्य काजी-** यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।
7. **मुहतसिब-** यह जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करता था और देखता था कि शरीयत के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं साथ ही यह माप तौल का निरीक्षण भी करता था।

उपरोक्त सातों अधिकारियों के अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में कुछ छोटे-छोटे पद भी होते थे, जैसे- दरोगा-ए-तोपखाना, दरोगा-ए-डाकचौकी, मीर-माल (टकसाल प्रधान), मीर-बर्र (वन अधीक्षक) आदि।

1.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन

मुगल सम्राट बाबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन जागीरों में किया था तथा उसके समय किसी प्रकार की प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। सबसे पहले पहले एकरूप प्रान्तो का निर्माण अकबर के शासनकाल में हुआ। सन् 1580 में अकबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन 12 प्रान्तों में किया, जिसकी संख्या शाहजहाँ के काल तक 22 हो गयी। अकबर की प्रशासनिक नीति प्रशासनिक एकरूपता तथा रोक और संतुलन के सिद्धान्तों पर आधारित थी, परिणामस्वरूप प्रान्तीय प्रशासन का ही प्रतिरूप था।

प्रान्तीय प्रशासन का प्रमुख सूबादार/नजीम कहलाता था, जिसकी नियुक्ति बादशाह करता था। आमतौर पर सूबेदार का कार्यकाल तीन वर्ष का होता था। नजीम की सहायता हेतु कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे। प्रान्तीय दीवान की नियुक्ति केन्द्रीय दिवान की अनुशंसा पर बादशाह करता था। प्रान्तीय दीवान, नजीम के बराबर का अधिकारी होता था और कभी-कभी श्रेष्ठ अमीर को भी दीवान का पद दे दिया जाता था। इसी तरह प्रान्तीय बख्शी की नियुक्ति

केन्द्रीय बख्शी की अनुशंसा पर होती थी और प्रान्तीय बख्शी सुरक्षा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातें नजीम को बताए बिना केन्द्रीय बख्शी तक प्रेषित कर देता था। अकबर ने केन्द्रीय सद्र शक्ति को कम करने के लिए प्रान्तीय सद्र को नियुक्त करना शुरू किया। अब प्रान्तीय सद्र के परामर्श से भी धार्मिक बातों का निर्णय लिया जा सकता था। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय स्तर पर काजी भी होता था।

1.2.2.3 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों के विभाजन सरकार में होता था। सरकार से जुड़े हुए अधिकारी थे- फौजदार, अमालगुजार, खजानदार आदि। फौजदार शांति व्यवस्था की देख-रेख करता था और अमालगुजार भू-राजस्व से जुड़ा अधिकारी था। खजानदार सरकार के खजाने का संरक्षक होता था। कभी-कभी एक सरकार में कई फौजदार होते थे और कभी-कभी दो सरकारों पर एक फौजदार भी होता था। सरकार का विभाजन परगनों में होता था। परगनों से जुड़े अधिकारी सिकदार, आमिल, पोतदार, कानूनगों आदि थे। सिकदार शांति व्यवस्था का संरक्षक होता था और भू-राजस्व संग्रह में आमिल की सहायता करता था। आमिल भू-राजस्व प्रशासन से जुड़ा अधिकारी था। पोतदार, खजांची को कहा जाता था तथा कानूनगो गाँव के पटवारियों का मुखिया होता था और स्वयं कृषि भूमि का पर्यवेक्षण करता था।

सबसे नीचे ग्राम होता था जिससे जुड़े अधिकारी मुकद्दमे और पटवारी थे। मुगलकाल में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी। इस विभाजन के अतिरिक्त नगरों में कानून व्यवस्था की देख-रेख के लिए कोतवाल की नियुक्ति होती थी। अबुल फजल के आइने-अकबरी में कोतवाल के कार्यों का विवरण दिया गया है। इसी तरह प्रत्येक किले पर किलेदार कीह नियुक्त होती थी।

इस प्रकार मुगल प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन से लेकर गाँव तक क्रमबद्ध था। लेकिन कुछ इतिहासकार जिनमें इरफान हबीब और आर्थर अली महत्वपूर्ण हैं, मुगल प्रशासनिक ढाँचे को अतिकेन्द्रीकृत मानते हैं।

1.2.2.4 मनसबदारी व्यवस्था

अकबर के द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी पद्धति मौलिक रूप से एक प्रशासनिक सामरिक उपकरण थी, जिनका उद्देश्य अमीरों एवं सेना का एक सक्षम संगठन स्थापित करता था। वस्तुतः मनसबदारी पद्धति की व्याख्या केन्द्रीकृत राजनैतिक ढाँचे के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इसके साथ साम्राज्य की शक्ति को एक चैनल में बांध दिया गया और अमीर-वर्ग, सेना तथा नौकरशाही तीनों को जोड़ दिया गया।

मुगल साम्राज्य के सभी पंजीकृत अधिकारियों को एक मनसब प्रदान किया गया, जो जोड़े के अंक में प्रस्तुत किया जाता था। प्रथम, संबधित अधिकारी के जात रैंक का बोध होता था तथा दूसरे उसके सवार रैंक का बोध कराता था। जात रैंक किसी भी अधिकारी का विभन्न अधिकारियों के पदानुक्रम में पद और स्थान को निर्धारित करता था। दूसरी तरफ सवार रैंक उसके सैनिक उत्तरदायित्व को रेखांकित करता था। सैद्धान्तिक रूप से मनसब के कुल 66 ग्रेड होते थे। निम्नतम 10 और उच्चतम 10 हजार होता था, किन्तु व्यवहारिक रूप में केवल 33 ग्रेड ही प्रचलित थे। पाँच हजार से अधिक रैंक सामान्यतः राजकीय व्यक्ति को ही प्रदान किए जाते थे, किन्तु यह प्रतिष्ठा कुछ राजपूत योद्धाओं को भी प्राप्त हुई।

1.2.2.5 जागीरदारी प्रथा

वस्तुतः जागीरदारी पद्धति की स्थापना के पीछे साम्राज्य का एक व्यापक उद्देश्य था, जिसके द्वारा उन राजपूत जमींदारों से भू-राजस्व संग्रह करना सम्भव हो गया, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन वर्ग को भू-

संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इकतादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं, जागीरदार को राजकीय नियमों के अनुरूप केवल प्राधिकृत राजस्व वसूलने का अधिकार था तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए राज्य जिम्मेदार था। यदि भू-राजस्व की वसूली में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता, तो जागीरदार उस क्षेत्र के फौजदार से सैनिक सहायता भी प्राप्त कर सकता था। जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा प्रशासनिक केन्द्रीकरण का प्रयास हुआ था और नौकरशाही को ग्रामीण समुदाय पर आरोपित कर दिया गया था।

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासन

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। प्रारम्भ में कम्पनी का उद्देश्य व्यापार करना था और मुम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के बंदरगाहों से होकर शेष भारत से इसका सम्पर्क रहता था। धीरे-धीरे कम्पनी की प्रादेशिक महत्वकांक्षा प्रबल होती गयी और शीघ्र ही वह भारत में एक प्रमुख युरोपीय शक्ति बन गयी। यही कम्पनी आगे चलकर मुगल शासन की उत्तराधिकारी बनी। प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद भारत में कम्पनी की साम्राज्यीय महत्वाकांक्षाऐं प्रबल हुई और 1765 की इलाहाबाद की संधि के द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अधिकार प्राप्त हुए, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की शुरूआत हुई, जहाँ कि राजस्व संग्रहण का कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में था, लेकिन सामान्य प्रशासन की जिम्मेदारी संबंधित प्रान्त में मुगल प्रशासन द्वारा नियुक्त नवाब के जिम्मे होती थी। इस प्रकार कर्त्तव्य नवाब के पास थे लेकिन शक्तियाँ कम्पनी के पास। यद्यपि नवाब की नियुक्ति में भी कम्पनी का हस्तक्षेप होता था और उप-नवाब की नियुक्ति का अधिकार तो कम्पनी के पास ही था। इस प्रकार सारी शक्तियाँ कम्पनी के हाथ में केन्द्रीत हो गयी, लेकिन कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व नहीं, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की वजह से अकाल, अव्यवस्था जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

कम्पनी के शासन की शुरूआत होने और उसकी शक्तियों में वृद्धि होने के साथ-साथ ब्रिटिश संसद का भी भारतीय प्रशासन सम्बन्धी मामलों में कम्पनी के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रारम्भ हुआ, जो कि 1857 की क्रांति के बाद कम्पनी शासन की समाप्ति और भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की स्थापना में परिणत हो गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की स्थापना के बाद ब्रिटिश संसद ने समय समय पर विभिन्न अधिनियम पारित करके कम्पनी के शासन पर नियंत्रण करने का प्रयास किया, जिनकी संक्षिप्त चर्चा निम्नांकित रूप में की जा सकती है-

1.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

भारतीय संवैधानिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट का विशेष महत्व है। सरकार ने कम्पनी के आर्थिक, प्रशासनिक एवं सैनिक कार्यों पर संसद के आंशिक नियंत्रण के लिए यह अधिनियम

पारित किया था। इस अधिनियम के द्वारा बंगाल के गवर्ननर को कम्पनी के भारतीय प्रदेशों का गर्वनर जनरल बनाया गया तथा इसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक परिषद की स्थापना की गयी। इस कानून में मुम्बई और मद्रास के प्रेसीडेंसी को कलकत्ता प्रेसीडेंसी बंगाल के अधीन कर दिया गया, साथ ही भारतीय मामलों में संसद का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। परिणामस्वरूप इस कानून से भारत में प्रशासन के केन्द्रीकरण का कार्य शुरू हुआ।

1784 में पिट्स इंडिया एक्ट के माध्यम से गवर्नर जनरल की कौंसिल में सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी, साथ ही मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर जनरल के निरीक्षण एवं नियंत्रण के अधिकार अधिक स्पष्ट कर दिए गये। इस अधिनियम का उद्देश्य कम्पनी पर ब्रिटिश क्राउन का नियंत्रण बढ़ाना था। अतः ब्रिटेन में छ: सदस्यों के 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की स्थापना की गयी। 1786 के अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को परिषद् से अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी और उसे मुख्य सेनापति बनाया गया।

1793 के अधिनियम से गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की अनुशंसा को रद्द करने का अधिकार दिया गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत में ब्रिटिश कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, लेकिन भू-राजस्व प्रशासन एवं भारतीय प्रशासन का कार्य कम्पनी के अधीन रहने दिया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम से बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा। बंबई एवं मद्रास प्रेसीडेंसी को पूर्णतः बंगाल के अधीन कर दिया गया। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का एकाधिकार गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद को प्रदान किया गया तथा बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी से विधि निमार्ण के अधिकार छीन लिए गये। अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल की काउंसिल में एक चौथा सदस्य फिर से जोड़ा गया, जिसे विधि सदस्य का नाम दिया गया। इस प्रकार इस अधिनियम से भारत में केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना हुई।

1858 के अधिनियम द्वारा भारत पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद के शासन की स्थापना हुई। भारत सचिव के पद का सृजन किया गया। तथा समस्त संवैधानिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियाँ भारत सचिव तथा उसकी 15 सदस्यीय परिषद में केन्द्रित हो गयी। भारत में सत्ता का केन्द्रीकरण गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद में निहित हो गया। गवर्नर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा।

1861 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। पहली बार प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना हुई। यद्यपि इनके कई अधिकार सीमित थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद तथा विधायिका का पुनर्गठन किया गया। अधिनियम की व्यवस्था द्वारा कार्यकारिणी के महत्व में कमी एवं गवर्नर जनरल के प्रभाव में वृद्धि हुई। गवर्नर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत किया गया कि वह प्रशासनिक व्यवस्था हेतु विधि बनाए। कैनिंग के द्वारा विभागीय व्यवस्था की शुरूआत की गयी। अधिनियम के द्वारा मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी को पुनः विधिक निर्माण के अधिकार तथा अन्य प्रान्तों में ऐसी ही विधायिकाओं की स्थापना की व्यवस्था करके विधि-निर्माण में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की नींव पड़ी।

1892 के भारतीय परिषद अधिनियम के अन्तर्गत विधायिकाओं की सदस्य संख्या और शक्ति में वृद्धि हुई तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की सिफारिशें पर मनोनीत किया जाने लगा। 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा विधायिकाओं की सदस्य संख्या में वृद्धि हुई परन्तु बहुमत सरकारी सदस्यों का ही बना रहा। अधिनियम में अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को अपनाया गया अर्थात् केन्द्रीय विधान परिषद में विभिन्न प्रान्तों से सदस्य चुनकर आने थे। इस अधिनियम का सबसे बड़ा दोष पृथक निर्वाचन व्यवस्था थी।

1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को स्थान दिया गया। केन्द्रीय स्तर पर द्वि-संदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना हुई। अधिनियम के द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर को अपने पार्षदों की सहायता से करना था तथा हस्तांतरित विषयों का प्रशासन निर्वाचित मंत्रियों की सहायता से किया जाना था।

सन् 1919 से स्वतंत्रता तक, प्रशासनिक व्यवस्था '1935 के भारत सरकार अधिनियम' का भारत के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस अधिनियम ने भारत में संघात्मक व्यवस्था का सूत्रपात किया। इस संघ का निर्माण ब्रिटिश भारत के प्रान्तों, देशी राज्यों और कमिश्नरी के प्रशासनिक क्षेत्र को मिलाकर किया जाना था। संघ स्तर पर 'द्वैध शासन-प्रणाली' को अपनाया गया और आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का प्रावधान किया गया। संघीय कार्यपालिका, संघीय विधान मण्डल तथा संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। प्रान्तों में प्रान्तीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार की कार्यपालिका शक्ति समस्त प्रान्तीय विषयों तक स्थापित हो गयी। प्रान्तों से द्वैध शासन-प्रणाली का अन्त कर दिया गया, किन्तु व्यवहार में गवर्नर की शक्ति अब भी बनी रही। गवर्नर की शक्तियों को तीन भागों में विभाजित किया गया, पहला- स्वेच्छा से काम में आने वाली शक्तियाँ, दूसरा- व्यक्तिगत शक्तियाँ और तीसरा- विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से काम में आने वाली शक्तियाँ। इस अधिनियम का सबसे विवादास्पद पहलू धारा- 93 थी, जिसके अनुसार गवर्नर विशेष परिस्थितियों में प्रान्तीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले सकता था। इसी शक्तियों का प्रयोग कर 1939 में विभिन्न प्रान्तों में गवर्नर ने शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया। भारतीय स्वतंत्रता तक इसी अधिनियम के अनुसार भारतीय प्रशासन का संचालन किया जाता रहा। स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रशासन स्वतंत्र भारत के संविधान द्वारा प्रारम्भ हुआ।

1.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास

स्वतंत्र भारत में केन्द्रीय सचिवालय औपचारिक रूप से 30 जनवरी, 1948 को स्थापित हुआ, लेकिन मूल रूप से केन्द्रीय सचिवालय अन्य प्रशासनिक संस्थाओं की भाँति ब्रिटिश शासनकाल की देन है। ब्रिटिश काल में इसे "इंपीरियल सेक्रेटेरिएट" कहा जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के समय भारत में प्रशासनिक एकता स्थापित करने में केन्द्रीय सचिवालय की विशेष भूमिका थी। समय के परिवर्तन के साथ जैसे जैसे सरकार का कार्यभार बढ़ता गया, विभागों की संख्या भी बढ़ती गयी। 1919 से 1947 तक का काल केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव पर-

- विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया।
- लिखित आलेखों की प्रथा प्रारम्भ की गयी।
- केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था आरम्भ हुई।
- सचिवालय में प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया।

1919 में पुनर्गठित सचिवालय में कुल 11 विभाग थे।

सन् 1936-37 में नियुक्त होने वाली व्हीलर समिति और मैक्सवेल समिति (संगठन तथा प्रक्रिया समिति) ने केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्य-पद्धति में सुधार हेतु और भी सुझाव प्रस्तुत किए। आजादी के उपरान्त गठित सरकार को कुछ ऐसी विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार अत्यधिक हो गया। ये समस्याएं निम्नांकित थीं-

- देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को भारत में बसाना।

10:26

44

- जम्मू-कश्मीर में बाह्य आक्रमण की समस्या।
- रियासतों का भारतीय संघ में एकीकरण।
- आंतरिक सुरक्षा की समस्या।
- आवश्यक वस्तुओं के अभाव की समस्या।
- प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भारी मात्रा में कमी।

कल्याणकारी राज्य की स्थापना से प्रेरित होने के कारण भी सरकार के कार्यभार में अत्यधिक मात्रा में बढोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार बढ़ा 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो केन्द्रीय सचिवालय में 19 विभाग थे, जिनका फिर से पुनर्गठन एवं सुधार करने के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार ने सर गिरिजा शंकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की। कालांतर में विभागों की संख्या बढ़ी जैसे 1978 में 69 विभाग और 2001 में 81 विभाग।

1.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासक स्थापित होने के बाद प्रान्तों को वित्त के सम्बन्ध में बहुत अधिक सीमा तक स्वतंत्रता दी गयी, किन्तु 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। अधिनियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी प्रान्तीय सरकार को नए पद तथा नए वेतन भत्ते की स्वीकृति का अधिकार नहीं होगा, जब तक कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति न मिल जाए।

1833-1870 तक प्रान्तीय सरकारें केन्द्र सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में ही कार्य करती रहीं, उन्हें कर लगाने अथवा उसे खर्च करने का कोई अधिकार नहीं था। सर्वप्रथम 1870 में वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा एक निश्चित योजना को अपनाया गया।

- जिसके अन्तर्गत जेलें, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, सड़कें, चिकित्सा सेवाएँ, छपायी आदि के व्यय की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया।
- प्रान्तों को कुछ निश्चित वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गयी।

1877 में स्ट्रेची द्वारा प्रस्तावित नवीन योजना के अन्तर्गत भूमि कर, स्थानीय चुंगी, स्टाम्प, स्टेशनरी, कानून व न्याय और सामान्य प्रशासन की कुछ व्यय मदें प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दी गयी। वित्तीय विकेंद्रीकरण की दिशा में 1882 में प्रस्तावित नई योजना के अनुसार राजस्व के समस्त साधनों को तीन भागों में विभक्त किया गया। केन्द्रीय, प्रान्तीय व विभाजित।

केन्द्रीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केन्द्रीय नियंत्रण में तथा प्रान्तीय राजस्व को प्रान्तीय नियंत्रण में रखा गया। विभाजित मदों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बराबर-बराबर बांटने का निश्चय किया गया। विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में 1907 में चार्ल्स हॉब हाऊस की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने सिफारिश की, कि गवर्नर जनरल को प्रान्तीय राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय बजट केन्द्र सरकार से बिल्कुल पृथक कर दिए गये और प्रान्तीय सरकारों को अपने बजट के निर्माण का पूर्ण अधिकार दिया गया। प्रान्तों को पहली बार प्रान्तीय या स्थानीय प्रकृति के कर लगाने का अधिकार मिला। 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वायत्ता की व्यवस्था की गयी और संघीय सरकार तथा प्रान्तों के बीच तीन सूचियों के आधार पर न केवल कार्यों का वर्गीकरण किया गया, बल्कि वित्तीय साधनों

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:27
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

का भी विभाजन किया गया। संघ सरकार तथा राज्यों के पृथक-पृथक आय साधन रखे गये। कुछ सीमा में प्रान्तों को उधार लेने का अधिकार भी दिया गया। प्रान्तों को अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से निमेंयर रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय सहायता प्रदान की गयी। निमेंयर रिपोर्ट की इस बात को स्वीकार कर लिया गया, कि आयकर की भी आधी धनराशि प्रान्तों में बांट दी जाए।

1.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भारत में कानून-व्यवस्था की स्थिति बगड़ती गयी। पुलिस शक्ति क्षेत्रीय जमीदारों के हाथ आ गयी। जब क्लाइव ने बंगाल की दीवानी प्राप्त की तो उसने प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को बनाए रखा। वारेन हेस्टिंग्स ने भी पुलिस व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वप्रथम कार्नवालिस ने एक संगठित पुलिस व्यवस्था की शुरुआत की। उसने थाना व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक पुलिस थाने की स्थापना कर उसे एक दरोगा के अधीन रखा। जिला स्तर पर जिला पुलिस अधीक्षक के पद का सृजन किया गया। ग्राम स्तर पर चौकीदारों को पुलिस शक्ति दी गयी। इस तरह आधुनिक पुलिस व्यवस्था की शुरुआत हुई।

सक्षम पुलिस व्यवस्था ने बहुत सारे उद्देश्य पूरे किए। मध्य भारत में ठगों का दमन, क्रांतिकारी षड्यंत्रों का पर्दाफाश तथा राष्ट्रीय आंदोलन को इसी पुलिस व्यवस्था के द्वारा कुचला गया। इसने भारतीय जनता के साथ क्रूर व्यवहार भी किया। 1813 ईस्वी में संसद की एक समिति ने रिपोर्ट दी कि पुलिस ने भारतीय जनता को डाकुओं की तरह प्रताड़ित किया है। वस्तुतः महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के मामले में ब्रिटिश कम्पनी सतर्क रही। कार्नवालिस ने तो स्पष्ट रूप से भारतीयों को भ्रष्ट मान लिया एवं उन्हें उत्तरदायी पदों से दूर रखा। कुछ छोटे-छोटे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति अवश्य की गयी, जैसे- अमीन एवं दरोगा। 1793 ईसवीं के बाद आधिकारिक नीति भारतीयों को महत्वर्पूण पदों से वंचित करने की रही।

1.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद मुगलकालीन न्याय व्यवस्था टूट गयी। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में भूमि सुपुर्दगी प्रथा से समृद्ध भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। न्यायिक शक्तियाँ भी भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद क्लाइव ने प्रचलित व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। न्याय व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से वारेन हेंस्टिंग्स का काल महत्वपूर्ण है। भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली की स्थापना इसी काल में हुई ब्रिटिश न्याय प्रशासन भारतीय और ब्रिटिश प्रणालियों तथा संस्थाओं का सम्मिश्रण था। कानून के शासन तथा न्याय पालिका की स्वतंत्रता इस प्रणाली की विशेषता थी। वारेन हेसिटंग्स ने सिविल तथा फौजदारी मामलों के लिए अलग-अलग अदालतें स्थापित की। उसने न्याय सुधार में मुगल व्यवस्था को ही आधार बनाया।

सर्वप्रथम वारेन हेंस्टिंग्स ने सिविल अदालतों की शृंखला स्थापित की। सबसे नीचे मुखिया, फिर जिले में जिला दीवानी अदालत तथा सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी। इसी तरह फौजदारी अदालतों का पुनर्गठन किया गया। प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत स्थापित की गयी जो काजी, मुफ्ती एवं मौलवी के अधीन होती थी। इसके ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी।

कार्नवालिस के द्वारा उपरोक्त व्यवस्था में सुधार किए गये। उसके सुधारों में यूरोपीय तत्व प्रबल थे। कार्नवालिस ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के अन्तर्गत लगान प्रबन्ध से दीवानी प्रशासन को पृथक कर दिया। 1793 में कार्नवालिस संहिता द्वारा कलेक्टर से न्यायिक एवं फौजदारी शक्तियाँ ले ली गयी। जिला अदालतों के लिए श्रेणी निर्धारित की गयी तथा दीवानी अदालतों का पुनर्गठन हुआ। फौजदारी अदालतों की भी नई शृंखला बनाई गयी।

इसके अतिरिक्त विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड-संहिता में परिवर्तन किया। विलियम बैंटिक के शासनकाल में उपयोगितावादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड विधान की कठोरता को कम करने का प्रयत्न किया गया। कुछ महत्वपूर्ण न्यायिक पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया। 1859 से 1861 के बीच दण्ड विधि, सिविल कार्य विधि तथा दण्ड प्रक्रिया पारित की गयी। इन सुधारों में सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही विधि प्रणाली लागू की गयी। 1861 मे भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित हुआ तथा कलकत्ता एवं मद्रास में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। आगे लाहौर, पटना आदि स्थानों पर भी उच्च न्यायालय स्थापित हुए।

1935 के भारत शासन अधिनियम के आधार पर एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त अन्य न्यायाधीश होते थे। न्यायालय के क्षेत्र में प्रारम्भिक एवं अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी विषय थे। प्रान्तीय न्यायालयों को दीवानी, आपराधिक, वसीयती, गैर-वसीयती और वैवाहिक क्षेत्राधिकार मौलिक एवं अपीलीय दोनों प्रकार के प्राप्त थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट कब पारित हुआ?
2. पिट्स इंडिया एक्ट कब पारित हुआ?
3. ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतमें आगमन कब हुआ?
4. 1919 के अधिनियम को किस नाम जाना जाता है?
5. केन्द्रीय स्तर पर द्विसंदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना किस अधिनियम से हुई?
6. अशोक ने किस शिलालेख में घोषणा की कि "सारी प्रजा मेरी संतान है"?
7. अर्थशास्त्र के लेखक कौन हैं?
8. मेगस्थनीज की पुस्तक का क्या नाम है?

1.3 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरु करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। इस अध्ययन में आप ने यह देखा कि मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था जिसमें शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद हो गया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता है था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था और बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है। इसके बाद भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

भारत में लोक प्रशासन BAPA-102

10:28
44

इकाई- 4 भारतीय संविधान की विशेषताऐं

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय संविाधान की प्रस्तावना
4.3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं
4.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध
4.5 लोक कल्याणकारी राज्य
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

इकाई एक में हमने भारतीय संविधान के निमार्ण में विदेशी संविधान के प्रभावों का अध्ययन किया साथ ही भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण पक्षों का भी अध्ययन किया है।

इस इकाई में भारतीय संविधान की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन किया जायेगा। जिससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को समझने में और सुविधा हो सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय संविधान में विश्व के संविधानों के उन्हीं पक्षों को शामिल किया गया है, जो हमारे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप है। चाहे वह संसदीय शासन हो चाहे संघात्मक शासन हो या एकात्मक शासन हो। भारत ने ब्रिटेन के संसदीय शासन को अपनाया गया, किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय संविधान इतना विस्तृत क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संसदीय तत्व क्यों अपनाये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संघात्मक उपबन्ध क्यों किये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- संसदीय शासन के बाद भी संविधान की सर्वोच्चता हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

4.2 भारतीय संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक देश का संविधान उसके देश-काल की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया जाता है। चूँकि प्रत्येक देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए संविधान निर्माण के समय उन सभी पक्षों को शामिल किया जाता है। इस भिन्नता के कारण यह संभव है कि किसी देश में कोई

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

व्यवस्था सफल हो तो वह अन्य देश में उसी स्वरूप में न सफल हो या उसे उसी रूप में लागू न किया जा सके। यदि हम देखें तो हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण के समय विश्व के प्रचलित संविधानों का अध्ययन किया और उन संविधानों के महत्वपूर्ण प्रावधानों को अपने देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर अपनाने पर जोर दिया है। जैसे- हमारे देश में ब्रिटेन के संसदीय शासन का अनुसरण किया गया है किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है बल्कि संसदीय के साथ संघात्मक शासन को अपनाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है कि संसदीय के साथ एकात्मक शासन न अपनाकर संघात्मक शासन क्यों अपनाया गया है? चूँकि हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बहुलता पायी जाती है, इसलिए इनकी पहचान को बनाए रखने के लिए संघात्मक शासन की स्थापना को महत्व प्रदान किया गया। परन्तु संघात्मक शासन में पृथक पहचान, पृथकतावाद को बढ़ावा न दे, इसके लिए एकात्मक शासन के लक्षणों का भी समावेश किया गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा न उत्पन्न हो, क्योंकि आजादी के समय हमारा देश विभाजन के दुःखद अनुभव को झेल चुका था।

यहाँ हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अन्य देशों के संविधान की भाँति हमारे देश के संविधान का प्रारम्भ भी प्रस्तावना से हुआ है। प्रस्तावना को प्रारम्भ में इसलिए रखा गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि इस संविधान के निर्माण का उद्देश्य क्या था? साथ ही वैधानिक रूप से संविधान के किसी भाग की वैधानिक व्याख्या को लेकर यदि स्पष्टता नहीं है, तो प्रस्तावना मार्गदर्शक का कार्य करती है। संविधान की प्रस्तावना के महत्व को देखते हुए सर्वप्रथम प्रस्तावना का अध्ययन करना आवश्यक है-

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में 'समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता' शब्द नहीं था। इसका भारतीय संविधान में समावेश 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है।

अब हम प्रस्तावना में प्रयोग में लाये गये महत्वपूर्ण शब्दों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे-

1. **हम भारत के लोग-** इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय संविधान का निर्माण किसी विदेशी सत्ता के द्वारा नहीं किया गया है, बस भारतीयों ने किया है। प्रभुत्व शक्ति का स्रोत स्वंय जनता है और अन्तिम सत्ता का निवास जनता में है।
2. **सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न-** इसका तात्पर्य परम सत्ता या सर्वोच्च सत्ता से है, जो निश्चित भू-क्षेत्र अर्थात भारत पर लागू होती है। वह परम सत्ता किसी राजे-महाराजे या विदेशी के पास न होकर स्वंय भारतीय जनता के पास है और भारतीय शासन अपने आंतरिक प्रशासन के संचालन और परराष्ट्र संबंधों के संचालन में पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करेगा। यद्यपि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य है, परन्तु इससे उसके सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
3. **पंथ निरपेक्ष-** यह शब्द मूल संविधान में नहीं था, वरन् इसका समावेश संविधान में 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है। इसका तात्पर्य है कि- राज्य किसी धर्म विशेष को 'राजधर्म' के रूप में संरक्षण नहीं प्रदान करेगा, वरन् वह सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करेगा और उन्हें समान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।
4. **गणराज्य-** इसका तात्पर्य है कि भारतीय संघ का प्रधान, कोई वंशानुगत राजा या सम्राट ना होकर के निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। ब्रिटेन ने वंशानुगत राजा होता है, जबकि अमेरिका में निर्वाचित राष्ट्रपति है। इसलिए भारत, अमेरिका के समान गणराज्य है।

10:28

44

5. **न्याय-** हमारा संविधान नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की गारण्टी देता है। न्याय का तात्पर्य है कि राज्य का उद्देश्य सर्वजन का कल्याण और सशक्तिकरण है, न कि विशेष लोगों का। सामाजिक न्याय का तात्पर्य है कि अब तक हासिये पर रहे वंचित समुदायों को भी समाज की मुख्यधारा में लाने वाले प्रावधान किये जायें तथा उनका क्रियान्वयन भी सुनिश्चित किया जाए। आर्थिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी न्यूनतम आवश्यकता को वस्तुओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने का अवसर प्रदान किये जाए। राजनीतिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान का भेदभाव किये बिना उसे अपना प्रतिनिधि चुनने और स्वंय को प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होना चाहिए।
6. **एकता और अखण्डता-** मूल संविधान में एकता शब्द ही था। पर 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा अखण्डता शब्द का समावेश किया गया। जिसका तात्पर्य यह है कि धर्म, भाषा, क्षेत्र, प्रान्त, जाति आदि की विभिन्नता के साथ एकता के आदर्श को अपनाया गया है। इसके साथ अखण्डता शब्द को जोड़कर 'अखण्ड एकता' को साकार करने का प्रयास किया गया है। इसके समर्थन में भारतीय संविधान में 16वाँ संवैधानिक संशोधन भी किया गया है।

4.3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं

भारतीय संविधान की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं-

1. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान-** संविधान के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है, प्रभुसत्ता अर्थात सर्वोच्च सत्ता का स्रोत जनता है। प्रभुसत्ता का निवास जनता में है। इसको संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि 'हम भारत के लोग ....।'
2. **विश्व में सर्वाधिक विस्तृत संविधान-** हमारा संविधान विश्व में सबसे बड़ा संविधान है। जिसमें 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 12 अनुसूचियाँ हैं। जबकि अमेरिका के संविधान में 7 अनुच्छेद, कनाडा के संविधान में 147 अनुच्छेद है। भारतीय संविधान के इतना विस्तृत होने के कई कारण है। जो निम्नलिखित हैं-
    - हमारे संविधान में संघ के प्रावधानों के साथ-साथ राज्य के शासन से सम्बन्धित प्रावधानों को भी शामिल किया है। राज्यों का कोई पृथक संविधान नहीं है केवल जम्मू-कश्मीर को छोड़कर। जबकि अमेरिका में संघ और राज्य का पृथक संविधान है।
    - जातीय, सांस्कृतिक, भौगोलिक व सामाजिक विविधता भी संविधान के विशाल आकार का कारण बना, क्योंकि इसमें अनुसूचित जातियों, जनजातियों, आंग्ल भारतीय, अल्पसंख्यक आदि के लिए पृथक रूप से प्रावधान किये गये हैं।
    - नागरिकों के मूल अधिकारों का विस्तृत उल्लेख करने के साथ ही साथ नीति-निदेशक तत्वों और बाद में मूल-कर्तव्यों का समावेश किया जाना भी संविधान के विस्तृत होने का आधार प्रदान किया है।
    - नवजात लोकतन्त्र के सुचारू रूप से संचालन के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रशासनिक एजेन्सियों से सम्बन्धित प्रावधान भी किये गये हैं। जैसे- निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग,

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:28
44

भाषा आयोग, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, महिला आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग आदि। संघात्मक शासन का प्रावधान करने के कारण केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विस्तृत उपबन्ध संविधान में किया गया है।

3. **सम्पूर्ण प्रमुख सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य-** जैसा कि हम ऊपर प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तिम सत्ता जनता में निहित है। भारत अब किसी के अधीन नहीं है। वह अपने आन्तरिक और वाह्य मामले पूरी तरह से स्वतन्त्र है। संघ का प्रधान कोई वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित राष्ट्रपति है, न कि ब्रिटेन की तरह सम्राट।
4. **पंथ निरपेक्ष-** भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। यद्यपि इस शब्द का समावेश संविधान में 42वें संविधान संशोधन 1976 के द्वारा किया है, किन्तु इससे सम्बन्धित प्रावधान संविधान के विभिन्न भागों में पहले से विद्यमान है। जैसे- मूल अधिकार में और इसी प्रकार कुछ अन्य भागों में भी। पंथनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं है। सभी धर्मों के साथ वह समान व्यवहार करेगा और समान संरक्षण प्रदान करेगा।
5. **समाजवादी राज्य-** इस शब्द को निश्चित रूप से परिभाषित करना आसान कार्य नहीं है, परन्तु भारतीय सन्दर्भ में इसका तात्पर्य है कि राज्य विभिन्न समुदायों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।
6. **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय-** संविधान में संशोधन प्रणाली के आधार पर दो प्रकार के संविधान होते हैं। पहला- कठोर संविधान, दूसरा- लचीला संविधान। कठोर संविधान वह संविधान होता है, जिसमें संशोधन कानून निर्माण की सामान्य प्रक्रिया से नहीं किया जा सकता है। इसके लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जैसा कि अमेरिका के संविधान में है। अमेरिका के संविधान में संशोधन तभी सम्भव है जब कांग्रेस के दोनों सदन(सीनेट, प्रतिनिध सभा) दो तिहाई बहुमत से संशोधन प्रस्ताव पारित करें और उसे अमेरिकी संघ के 50 राज्यों में से कम से कम तीन चौथाई राज्य उसका समर्थन करें। अर्थात न्यूनतम राज्य।

   लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। जैसे ब्रिटेन का संविधान। क्योंकि ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से ही यातायात कर लगा सकती तो वह साधारण बहुमत से ही क्राउन की शक्तियों को कम कर सकती है।

   किन्तु भारतीय संविधान न तो अमेरिका के संविधान के समान कठोर है और न ही ब्रिटेन के संविधान के समान लचीला है। भारतीय संविधान में संशोधन तीन प्रकार से किया जा सकता है-

   - पहला- कुछ अनुच्छेदों में साधारण बहुमत से संशोधन किया जा सकता है।
   - दूसरा- संविधान के ज्यादातर अनुच्छेदों में संशोधन दोनों सदनों के अलग-अलग बहुमत से पारित करके साथ ही यह बहुमत उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई है।
   - तीसरा- भारतीय संविधान में कुछ अनुच्छेद, जो संघात्मक शासन प्रणाली से सम्बन्धित हैं, उपरोक्त क्रम दो के साथ (दूसरे तरीका) कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों के द्वारा स्वीकृति देना भी आवश्यक है।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:28

44

इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का मिश्रिण होने का उदाहरण पेश करता है। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा था कि- 'हम संविधान को इतना ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं, जितना हम बना सकें। परन्तु सच तो यह है कि संविधान तो स्थायी होते ही नहीं हैं। इनमें लचीलापन होना चाहिए। यदि आप सब कुछ कठोर और स्थायी बना दें तो आप राष्ट्र के विकास को तथा जीवित और चेतन लोगों के विकास को रोकते हैं। हम संविधान को इतना कठोर नहीं बना सकते कि वह बदलती हुई दशाओं के साथ न चल सके।

7. **संसदीय शासन प्रणाली-** हमारे संविधान के द्वारा ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह संसदीय प्रणाली को न केवल संघ में वरन राज्यों में भी अपनाया गया हैं।

   इस प्रणाली की कुछ विशेषताएं हैं-

   - नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद- नाममात्र की कार्यपालिका, संघ में राष्ट्रप्रति और राज्य में राज्यपाल होता है जबकि वास्तविक कार्यपालिका, संघ और राज्य दोनों में मंत्री-परिषद होती है।
   - राष्ट्रपति (संघ में) राज्यपाल (राज्य में) केवल संवैधानिक प्रधान होते हैं।
   - मंत्री-परिषद (संघ में) लोक सभा के बहुमत के समर्थन पर ही अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करती है। राज्य में मंत्री-परिषद अपने अस्तित्व के लिए विधान सभा के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करती है। लोक सभा और विधान सभा दोनों निम्न सदन हैं, जनप्रतिनिधि सदन है। इनका निर्वाचन जनता प्रत्यक्षरूप से करती है।
   - कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कार्यपालिका का गठन व्यवस्था के सदस्यों में से ही किया जाता है।

8. **एकात्मक लक्षणों के साथ संघात्मक शासन-** यद्यपि भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। किन्तु उसके साथ वहाँ के एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है। क्योंकि भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक बहुलता पायी जाती है। इस लिए इनकी अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक अस्मिता की रक्षा के लिए संघात्मक शासन प्रणाली अपनाया गया है। लेकिन संघात्मक शासन के साथ राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है। इस क्रम में हम पहले भारतीय संविधान में संघात्मक शासन के लक्षणों को जानने का प्रयास करेंगे। जो निम्नलिखित हैं-

   - लिखित निर्मित और कठोर संविधान।
   - केन्द्र(संघ) और राज्य की शक्तियों का विभाजन (संविधान द्वारा)।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:28

44

- स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायालय जो संविधान के रक्षक के रुप में कार्य करेगी। संविधान के विधिक पक्ष में कही अस्पष्टता होगी तो उसकी व्याख्या करेगी। साथ ही साथ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करेगी।

किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारतीय संघ हेतु, कनाडा के संघ का अनुसरण करते हुए संघीय सरकार (केन्द्र सरकार) को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। भारतीय संविधान के द्वारा यद्यपि संघात्मक शासन तो अपनाया गया है, किन्तु उसके साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना हेतु, निम्नलिखित एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है-

- केन्द्र और राज्य में शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में हैं, क्योंकि तीन सूचियों (संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची) के माध्यम से शक्ति विभाजन किया गया है। संघ सूची में संघ सरकार को, राज्य सूची पर राज्य सरकार को और समवर्ती सूची पर संघ और राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार होता है, किन्तु दोनों के कानूनों में विवाद होने पर संघीय संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होता है। इन तीनों सूचियों के अतिरिक्त जो अवशिष्ट विषय हों, अर्थात जिनका उल्लेख इन सूचियों में न हो उन पर कानून बनाने का अधिकार भी केन्द्र सरकार का होता है।
- इसके अतिरिक्त राज्य सूची के विषयों पर भी संघीय संसद को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे- संकट की घोषणा होने पर दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा प्रस्ताव द्वारा निवेदन करने पर, राज्य सभा द्वारा पारित संकल्प के आधार पर।
- इकहरी नागरिकता- संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता होती है एक तो उस राज्य की जिसमें वह निवास करता है दूसरी संघ की। जैसा कि अमेरिका में है। जबकि भारत में इकहरी नागरिकता है, अर्थात कोई व्यक्ति केवल भारत का नागरिक होता है।
- एकीकृत न्यायपालिका- एक संविधान, अखिल भारतीय सेवाऐं, आपातकालीन उपबन्ध, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संविधान संघात्मक शासन है, जिसमें संकटकालीन स्थितियों से निपटने हेतु कुछ एकात्मक लक्षण भी पाये जाते हैं।

4.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण की प्रक्रिया में दुनियाँ में तत्कालीन समय में प्रचलित कई संविधानों का अध्ययन किया और उसमें से महत्वपूर्ण पक्षों को जो हमारे देश में उपयोगी हो सकते थे, उन्हें अपने देश-काल की परिस्थितियों के अनुरुप ढालकर संविधान में उपबन्धित किया।

वे स्रोत निम्नलिखित हैं, जिनका प्रभाव भारतीय संविधान पर पड़ा-

स्रोत	विषय
भारतीय शासन अधिनियम 1935	तीनों सूचियां, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ
ब्रिटिश संविधान	संसदीय शासन
अमरीकी संविधान	प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय,

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

	उपराष्ट्रपति का पद, संविधान में संशोधन प्रक्रिया
आयरलैण्ड का संविधान	नीति-निदेशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल
कनाडा का संविधान	संघात्मक शासन(अवशिष्ट शक्तियाँ, केन्द्र के पास हैं)
आस्ट्रेलिया का संविधान	समवर्ती सूची
दक्षिण अफ्रीका का संविधान	संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
पूर्व सोवियत संघ	मूल कर्तव्य

4.5 लोक कल्याणकारी राज्य

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी। जिसमें संसदीय लोकतन्त्र को लागू किया गया है। संसदीय लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है। इसलिए भारतीय संविधान के द्वारा ही भारत को कल्याणकारी राज्य के रूप में स्थापित करने का प्रावधान भारतीय संविधान के विभिन्न भागों में किए गये, विशेष रुप से भाग- 4 के नीति निदेशक तत्व में, मौलिक अधिकारों में, अनुच्छेद- 17 के द्वारा अस्पृश्यता के समाप्ति की घोषणा के साथ इसे दण्डनीय अपराध माना गया है। प्रस्तावना में सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया गया। मौलिक अधिकार के अध्याय में किसी भी नागरिक के साथ धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर विभेद का निषेध किया गया। साथ ही अब तक समाज की मुख्यधारा से कटे हुए वंचित समुदायों के लिए विशेष प्रावधान किए गये, जिससे वे भी समाज की मुख्यधारा से जुड़कर राष्ट्र के विकास में अपना अमूल्य योगदान दे सकें।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। सत्य/असत्य
2. संसदीय शासन प्रणाली की विशेषता है, नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद। सत्य/असत्य
3. लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। सत्य/असत्य
4. भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ निरपेक्ष राज्य घोषित किया गयाहै। सत्य/असत्य
5. पंथ निरपेक्ष शब्द का समावेश संविधान में 42वें संशोधन 1976 के द्वारा किया है। सत्य/असत्य

4.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के के बाद आप को यह जानने में समर्थ हो पाये कि भारतीय संविधान की क्या विशेषताएें हैं। जिसमें यह भी जानने का अवसर प्राप्त हुआ कि किन कारणों से यह संविधान इतना विस्तृत हुआ है, क्योंकि हमारा नवजात लोकतंत्र की रक्षा और इसके विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि संभावित सभी विषयों का स्पष्ट रूप से समावेश कर दिया जाए। जैसे मूल अधिकार और नीति-निदेशक तत्वों को मिलाकर संविधान एक बड़ा भाग हो जाता है इसी प्रकार से अनुसूचित जातियों और जनजातियों से सम्बंधित उपबंध संघात्मक शासन अपनाने के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्ध और संविधान के संरक्षण, उसकी व्याख्या और मौलिक अधिकारों के रक्षक

10:29
44

बड़ा भाग हो जाता है इसी प्रकार से अनुसूचित जातियों और जनजातियों से सम्बंधित उपबंध संघात्मक शासन अपनाने के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्ध और संविधान के संरक्षण, उसकी व्याख्या और मौलिक अधिकारों के रक्षक

के रूप में स्वतंत्र निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायलाय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। जिसकी वजह से संविधान विस्तृत हुआ है। इसके साथ-साथ विभिन्न संवैधानिक आयोगों की स्थापना जैसे निर्वाचन आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग, राजभाषा आयोग आदि कारणों से संविधान विस्तृत हुआ। इसके साथ ही साथ हमने इस तथ्य का भी अध्ययन किया की संविधान निर्माण में संविधान निर्माता किन देशों में प्रचलित किस पक्ष को अपने देश की आवश्कताओं के अनुरूप पाये, जिस कारण से उन्होंने भारतीय संविधान में शामिल किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें संसदीय और अध्यक्षीय शासन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई।

4.7 शब्दावली

लोक प्रभुसत्ता- जहाँ सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित हो, वहाँ लोक प्रभुसत्ता होती है।

धर्म निरपेक्षता- राज्य का कोई धर्म न होना और राज्य के द्वारा सभी धर्मों के प्रति समभाव का होना।

समाजवादी राज्य(भारतीय सन्दर्भ में)- जहाँ राज्य के द्वारा आर्थिक असमानताओं को कम करने का प्रयत्न किया जाये।

संघीय व्यवस्था- केन्द्र और राज्य दोनों संविधान के द्वारा शक्ति विभाजन अपने-अपने क्षेत्र में दोनों संविधान की सीमा में स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करें।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य, 5. सत्य

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीत- महेन्द्र प्रताप सिंह।

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय संविधान- दुर्गादास बसु।

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. आप इस बात से कहाँ तक सहमत हैं कि भारतीय संविधान एकात्मक लक्षणों वाले संघात्मक शासन की स्थापना करता है?

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:30

45

M.A. Pre Paper-VI^th Unit-A (क)

Que. → संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ ?

अथवा → संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ ? इसे अपने कार्य निष्पादन में किन बाधाओं का सामना करना पड़ा ?

अथवा → संविधान सभा की संरचना और भारतीय संविधान के निर्माण में उसके योगदान पर प्रकाश डालिए। अथवा

→ भारत में संविधान सभा की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

अथवा → "भारत की संविधान निर्मात्री सभा भारतीय जनता की पूर्ण प्रतिनिधि संस्था थी।" मूल्यांकन कीजिए।

अथवा → "भारतीय संविधान के निर्माण के विभिन्न स्तरों की व्याख्या कीजिए।"

उत्तर

भारत में संविधान सभा की माँग राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग थी। संविधान सभा की माँग अप्रत्यक्ष रूप से बाल गंगाधर तिलक द्वारा 1895 ई० के स्वराज्य विधेयक में उठाई गई। सन् 1922 में महात्मा गाँधी ने स्पष्ट किया कि भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा। सन् 1924 में पं० जवाहर लाल नेहरू द्वारा ब्रिटिश सरकार के समक्ष संविधान

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:30

45

पं० जवाहर लाल नेहरू द्वारा ब्रिटिश सरकार के समक्ष संविधान

Convert this document and share it as an image

Share

सभा की प्रथम माँग रख दी गई। सन् 1937 व 1938 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में संविधान सभा की माँग को दोहराया गया और एक प्रस्ताव पारित किया गया कि "एक स्वतंत्र देश के संविधान निर्माण का एकमात्र तरीका संविधान सभा है। सिर्फ प्रजातंत्र और स्वतंत्रता में विश्वास न रखने वाले ही इसका विरोध कर सकते हैं।

संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ

सन् 1940 में पाकिस्तान प्रस्ताव के प्रतिपादन के लिए दो पृथक्-2 संविधान सभाओं की माँग की गई। मुस्लिम लीग पाकिस्तान के निर्माण के पक्ष में थी। ब्रिटिश सरकार भारतीयों के द्वारा की जा रही संविधान सभा की माँग के विरुद्ध थी। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध की परिस्थितियों व राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के कारण विवश होकर वह संविधान सभा के निर्माण के लिए सहमत हो गई। 1940 में ब्रिटिश सरकार ने अपने प्रस्ताव में कहा कि भारत का संविधान स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।

1942 में क्रिप्स मिशन के संविधान सभा के प्रस्ताव को भारतीयों ने ठुकरा दिया। तब पुनः सन् 1946 में कैबिनेट मिशन योजना तैयार की गई, जिसमें संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार किया गया। व इसे व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया गया। संविधान सभा का निर्माण 'कैबिनेट मिशन योजना' के अनुसार किया जाना निश्चित हुआ।

→ कैबिनेट मिशन योजना और संविधान सभा का निर्माण

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:30

45

कैबिनेट मिशन योजना में यह निश्चित किया गया कि भारत के संविधान के निर्माण हेतु परोक्ष निर्वाचन के आधार पर एक संविधान सभा की स्थापना की जाए। इस संविधान सभा में कुल 389 सदस्य हों → जिनमें

कुल 389 = 1.) 292 ब्रिटिश प्रान्त के प्रतिनिधि
2.) 4 चीफ कमिश्नरों के प्रतिनिधि
3.) 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि

योजना में कहा गया कि →

1.) प्रत्येक प्रान्त द्वारा भेजे जाने वाले सदस्यों की संख्या उसकी जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जाए और इस सम्बन्ध में 10 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि लेने का नियम अपनाया जाए।

2.) प्रत्येक प्रान्त में स्थानों का वितरण मुस्लिम, सिख व सामान्य समुदायों में से उनकी जनसंख्या के अनुपात में होगा।

3.) प्रान्तीय विधान सभा में प्रत्येक सम्प्रदाय के सदस्य अपने प्रतिनिधियों को आनुपातिक चुनाव प्रणाली व एकल संक्रमणीय मत पद्धति से चुनेंगे।

4.) भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के चयन की पद्धति आपसी सहमति से निर्धारित की जाएगी।

संविधान सभा ~~की~~ के गठन की इस योजना में कुछ दोष अवश्य थे। लेकिन इसके साथ

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:30

45

ही तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अच्छी कोई योजना प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी। अत: काँग्रेस के द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया।

संविधान सभा का गठन

संविधान सभा का गठन 3 चरणों में पूरा हुआ।

1.) प्रथम चरण :—

सर्व प्रथम कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन हुआ। और कुल सदस्यो की संख्या 389 निश्चित की गयी मुस्लिम लीग ने संविधान सभा मे अपनी स्थिति निर्बल देखकर संविधान सभा के बाहिष्कार का निश्चय किया।

2.) द्वितीय चरण :—

द्वितीय चरण की शुरुआत 3 जून 1947 की विभाजन योजना से होती है। और संविधान सभा का गठन किया गया, जिसके अनुसार 324 प्रतिनिधि होने थे।

3.) तृतीय चरण :—

यह चरण देशी रियासतो से सम्बन्धित था। और उनके प्रतिनिधि संविधान सभा में अलग-2 समय में

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:31

45

सम्मिलित हुए। 'हैदराबाद' ही एक ऐसी रियासत थी ~~जो~~ जिसके प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए।

संविधान सभा का स्वरूप

कांग्रेस ने संविधान सभा चुनावों में भाग लेते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा कि देश के बुद्धिमान लोगों को इसमें स्थान मिले और उनके अधिक-से-अधिक प्रतिनिधि हों।

कैबिनेट मिशन ने तो केवल मुसलमानों और ~~सिक्खो~~ सिक्खो के लिए ही स्थान सुरक्षित किये थे। कांग्रेस ने अपने उम्मीदवार के रूप में दूसरे अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गो आदि को भी स्थान दिया। चुनावों से पहले आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी ने अपनी प्रान्तीय इकाइयों को निर्देश भेजा कि वे उदारता से अपने प्रत्याशी छाँटे। संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस ने कहा कि वह तेज बहादुर सप्रू व. हृदयनाथ कुंजरू को स्थान दें। ~~इस~~ प्रकार

इस प्रकार मद्रास में एन० के० अय्यर, एन० जी० आयंगर, के संथानम और बी० शिवाराज को स्थान दिया गया, हालांकि ये लोग कांग्रेस के सदस्य नहीं थे। चुनावों में कांग्रेस के उम्मीदवारो को भारी संख्या में चुना जाना निश्चित था। इसकी ~~कारण~~ वजह यह थी कि कांग्रेस का अनेक प्रान्तीय विधानसभाओं में बहुमत था। कांग्रेस के जो उम्मीदवार चुने गए, उनमें प्रख्यात शिक्षाविद्, कानूनविद्, लेखक, उद्योगपति और

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:31
45

किसानों व मजदूरों के प्रतिनिधि थे। अनेक प्रख्यात व्यक्तित्व जैसे → डॉ राधाकृष्णन, अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, एस० सी० मुखर्जी, एन० गोपालास्वामी आयंगर, के० एम० मुंशी व टी० टी० कृष्णामाचारी को स्थान प्राप्त हुआ।

संविधान सभा की बैठक

संविधान सभा की दूसरी बैठक 20 से 26 जनवरी 1947 तक हुई। नेहरू ने संविधान के उद्देश्यों को लेकर जो प्रस्ताव रखा, वह पास हो गया। संविधान सभा ने घोषणा की कि उसका उद्देश्य भारत को प्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य बनाना है। नेहरू जी ने प्रान्तों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव रखा, जो पास हो गया। इसमें कहा गया कि संविधान बन जाने के बाद जल्दी-2 सांस्कृतिक, भाषायी आदि आधारों पर राज्यों का पुनर्गठन किया जायेगा।

संविधान सभा की तीसरी बैठक 25 अप्रैल से 2 मई तक हुई

इसे यूनियन पॉवर्स कमेटी (Union Powers Committee) तथा मूल अधिकारों पर परामर्शीय समिति (Advisory Committee on Fundamental Rights) की रिपोर्ट पर विचार किया गया।

→ पहली समिति ने कैबिनेट मिशन की इस सिफारिश को स्वीकार किया कि केन्द्र सरकार के विषय - प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, मुद्रा और

अन्तर्राष्ट्रीय, यातायात रहने चाहिए।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:31
45

अन्तर्राष्ट्रीय यातायात रहने चाहिए।

→ दूसरी समीति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि मूल अधिकारों को 2 भागों में रखा जाना चाहिए:-

1.) न्यायिक
2.) गैर-न्यायिक।

समीति ने यह भी कहा कि अधिकार सभी को बगैर किसी भेदभाव के दिये जाने चाहिएं। अस्पृश्यता को समाप्त करने के बारे में समीति की सिफारिश का सभी ने स्वागत किया।

→ 14-31 जुलाई →

14 से 31 जुलाई तक संविधान सभा की पुनः बैठक हुई। इसमें मुख्य रूप से 3 बातों पर विचार हुआ :→

→ [1.] प्रस्तावित संविधान पर यूनियन कान्स्टीट्यूशन कमेटी की रिपोर्ट।

→ [2] प्रान्तीय संविधान समीति की रिपोर्ट, जिसने प्रान्तों का एकमात्र संविधान बनाया था।

→ [3] भारतीय राष्ट्रीय ध्वज को स्वीकार करना।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:31 69
45

→ 14-15 अगस्त →

14-15 अगस्त की मध्य रात्रि को संविधान सभा की विशेष बैठक हुई। यह सत्ता हस्तान्तरण के बारे में थी।

→ 20-29 अगस्त →

20 से 29 अगस्त तक अपनी बैठक में 'यूनियन पॉवर्स कमेटी' की दूसरी रिपोर्ट पर विचार किया। चूंकि भारत का विभाजन हो गया था। इसलिए अब कैबिनेट मिशन का केन्द्र व प्रान्तों के मध्य विषयों के बँटवारे का प्रस्ताव बेकार हो गया था।

इस समय अल्पसंख्यकों पर समिति ने यह सिफारिश की कि अल्पसंख्यकों के पृथक निर्वाचन क्षेत्र समाप्त किये जाये। और यह सुझाव मान लिया गया। चूंकि सन् 1947 के स्वतंत्रता अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि संविधान सभा ही संसद का कार्य करेगी, इसलिए यह तर्क दिया गया कि संविधान और कानून-निर्माण का कार्य अलग-2 दिन किया जायेगा।

→ 29 अगस्त ने 29 अगस्त को संविधान सभा ने संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए डॉ० बी० आर० अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप-समिति नियुक्त कर दी। इस समिति का काम विभिन्न समितियों की सिफारिशों को ध्यान में रखकर संविधान का प्रारूप तैयार करना था।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

रखकर संविधान का प्रारूप तैयार करना था।

प्रारूप समिति की रिपोर्ट

21 फरवरी 1948 को प्रारूप समिति ने अपना कार्य पूरा कर लिया। इसके बाद सभा में उस पर विस्तार से चर्चा हुई। अनेक संशोधनों व सुधारों के बाद संविधान सभा ने 26 नवम्बर 1949 को संविधान पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी।

संविधान सभा का दृष्टिकोण

संविधान के प्रमुख प्रावधानों के सम्बन्ध में संविधान के दृष्टिकोण की विवेचना इस प्रकार की जा सकती है →

(1) प्रस्तावना →

संविधान की प्रस्तावना में अभिव्यक्त विचारों को संविधान सभा ने ~~अब~~ अपने प्रथम अधिवेशन में ही उद्देश्य प्रस्ताव पारित करके स्वीकार कर लिया था। प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्दों में ही यह भाव निहित है कि संविधान का उद्भव जनता की इच्छा से ही हुआ है और अन्तिम सत्ता जनता में ही निवास करती है।

प्रस्तावना संविधान सभा के इस संकल्प की घोषणा है कि वह भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य बनाएगी। प्रस्तावना के इस अंश के सम्बन्ध में संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने प्रश्न किया कि भारत गणराज्य राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को कैसे स्वीकार कर

10:31
45

सकता है। सभा के परामर्शदाता 'बी० एन० राव' ने इस आपत्ति के उत्तर देते हुए कहा कि →

" राष्ट्र म०डल की धारणा में स्पष्टतया विकास होता जा रहा है। और वह अब इस स्तर पर पहुँच चुका है कि जिसमें गणतांत्रिक संविधान वाले राज्यों को स्थान दिया जा सकता है।"

२.] मौलिक अधिकार →

संविधान के सदस्यों ने संवैधानिक परामर्शदाता बी० एन० राव के सुझावों के आधार पर अधिकारों को २ भागों में बाँटा - 'वाद योग्य और अवाद योग्य अधिकार। लेकिन सभा के सदस्यों विशेषतया हृदयनाथ कुंजरू और सोमनाथ लाहिड़ी का विचार था कि वाद-योग्य और अवाद-योग्य अधिकारों में विभाजन रेखा खींचना कठिन है और रोजगार के अधिकारों में अधिकार आदि आर्थिक अधिकारों को मौलिक अधिकारों की सूची में स्थान दिया जाना चाहिए। जिससे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की वास्तविक रूप से प्राप्ति की जा सके।

अधिकार सम्बन्धी मसविदे की इस आधार पर आलोचना की गई कि अधिकारों पर बहुत अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। लेकिन सरदार पटेल, एन० जी० रंगा आदि सदस्यों द्वारा प्रतिबन्धों को पूर्ण औचित्यपूर्ण बताया गया।

इन प्रतिबन्धों का आधार बतलाते हुए के० एम० मुंशी ने संविधान सभा में कहा था कि " सभा के अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की

अपेक्षा सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने के लिए अधिक चिंतित है।"

इस दृष्टिकोण के आधार पर संविधान के

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

अपेक्षा सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने के लिए अधिक चिंतित है।"

इस दृष्टिकोण के आधार पर संविधान के अनुच्छेद 21 में "कानून की उचित प्रक्रिया" शब्दों के स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर' शब्दावली को अपनाया गया।

3) नीति-निदेशक सिद्धांत :→

संविधान के चौथे अध्याय में नीति-निदेशक सिद्धांतो पर अपेक्षाकृत संक्षिप्त वाद-विवाद हुआ। संविधान सभा के कुछ सदस्यों, विशेषतया काजी सैय्यद करीमुद्दीन, हरिविष्णु कामथ, प्रो० नसीरुद्दीन, प्रो० के० टी० शाह आदि ने इस बात पर बल दिया था कि इन सिद्धांतों का क्रियान्वयन राज्य के लिए अनिवार्य होना चाहिए।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह संशोधन प्रस्तुत किया गया कि शीर्षक में 'निदेशक' शब्द के स्थान पर 'मौलिक' शब्द का प्रयोग किया जाए। डॉ० अम्बेडकर और अन्य सदस्यों ने इसे अस्वीकार कर दिया और कहा गया कि ~~शीर्षक में 'निदेशन' शब्द के स्थान पर 'मौलिक' शब्द को~~ ~~का प्रयोग किया जाए।~~

'मौलिक' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है, क्योंकि 'मौलिक' शब्द का प्रयोग न करते हुए भी इन्हे राज व्यवस्था के मौलिक सिद्धांतों के रूप में ही मान्यता दी गई है।

इसके दूसरे, इन सिद्धांतो का प्रयोजन आनेवाली व्यवस्थापिकाओं और कार्यपालिकाओं को निर्देश देना ही है। और इस दृष्टि से "निदेशक" शब्द ही उचित है।

10:31

45

दूसरे, इन सिद्धांतो का प्रयोजन आनेवाली व्यवस्थापिकाओं और कार्यपालिकाओं को निर्देश देना ही है। और इस दृष्टि से "निदेशक" शब्द ही उचित है।

वस्तुतः इन तत्वों का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक न्याय की प्राप्ति ही कहा जा सकता है।

5.] संघीय कार्यपालिका :—

राष्ट्रपति वी॰ एन॰ राव ने लिखा कि कार्यपालिका के प्रकार का चुनाव नवीन संविधान की रचना मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था। संविधान निर्माताओं को 3 प्रकार की कार्यपालिकाओं मे से किसी 1 का चुनाव करना था। ये थी → स्विस प्रकार की कार्यपालिका, अमेरिकी प्रकार की कार्यपालिका, और ब्रिटिश प्रकार की कार्यपालिका।

संविधान सभा के सदस्यों में इस प्रश्न पर मतभेद था। सभा के गैर-कांग्रेसी सदस्य, विशेषकर मुस्लिम सदस्य स्विस प्रकार कार्यपालिका के पक्ष मे थे। कुछ अमेरिकी प्रकार की कार्यपालिका के पक्ष में थे।

किन्तु यह सोचा गया कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य संघर्ष को संसदीय कार्यपालिका अपनाकर ही रोका जा सकेगा।

इसके साथ ही यह भी निश्चित किया गया कि संघीय कार्यपालिका के 2 अंग होंगे। [1] प्रथम → राष्ट्रपति, "जो ब्रिटिश सम्राट के समान राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष होगा।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:31

होंगे [1] प्रथम → राष्ट्रपति ...
के समान राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष होगा।

[2] द्वितीय → प्रधानमंत्री → व मंत्रिपरिषद् → जो वास्तविक कार्यपालिका होगी तथा जिसके द्वारा संसद के प्रति उत्तरदायी रहते हुए कार्य किया जायेगा।

5.] राष्ट्रपति का निर्वाचन :—

संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने वयस्क मताधिकार पर आधारित प्रत्यक्ष निर्वाचन का सुझाव दिया था। किन्तु इस प्रकार का निर्वाचन संविधान में निहित राष्ट्रपति की स्थिति से ~~मेल~~ नहीं मिलता।

अत: यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाए, जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य भी हो और यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर सम्पन्न हो।

6.] राष्ट्रपति की शक्तियाँ :—

राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर भी संविधान सभा में काफी वाद-विवाद हुआ। कुछ सदस्यों ने इन्हें काली शक्तियाँ तानाशाह प्रारम्भ करने की दिशा में कदम व केन्द्र द्वारा राज्यों की ~~ब्लैकमेलिंग~~ ~~ब्लैक~~ ब्लैकमेलिंग करने का माध्यम तक कहा।

किन्तु अधिकांश सदस्य इससे सहमत थे। क्योंकि ये सदस्य मानते थे कि इनके

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:31

45

कि बिना देश की स्वतंत्रता, एकता, अखण्डता सम्भव नहीं है। इन शक्तियों का सावधानिपूर्वक प्रयोग किया जाना चाहिए। और ~~इसका~~ ~~रास्ता~~ मार्ग यह निकला कि राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर संसद की स्वीकृति आवश्यक होगी। इस प्रकार राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर संसद का नियंत्रण ~~आवश्यक~~ ~~होगा~~। स्थापित कर दिया गया।

क.) संघीय कार्यपालिका : [मंत्रि परिषद्] :→

मंत्रियो की योग्यता सम्बन्धी प्रावधानों पर भी संविधान सभा में पर्याप्त वाद-विवाद हुआ। महावीर त्यागी ने शैक्षणिक योग्यता पर बल दिया। हरिविष्णु कामथ और के०टी० शाह ने मंत्रियो को आर्थिक ब्यौरा प्रस्तुत करने पर जोर दिया। लेकिन अम्बेडकर को इस सुझाव की उपयोगिता पर संदेह था।

के० एम पाणिक्कर, गोपालस्वामी आयंगर और अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने ~~श्रीमती~~ द्विसदनीय संसद का समर्थन किया।

शिब्बन लाल सक्सेना और मोहम्मद ताहिर ने इसे अप्रजातांत्रिक बताया।

लेकिन इसके बावजूद संविधान सभा ने यह स्वीकार किया कि राज्यसभा के 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। प्रारूप समिति ने लोक सभा के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार की सिफारिश की थी।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:32

45

के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार की सिफारिश की थी।

6) संघीय न्यायपालिका :- भारत में दोहरी राजनीतिक व्यवस्था होते हुए भी संविधान सभा द्वारा एकीकृत न्यायपालिका को अपनाया गया। प्रो० के०टी० शाह ने सुझाव दिया कि सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को किसी भी स्थिति में कार्यपालिका पद पर नियुक्त न किया जाए।

किन्तु डॉ० अम्बेडकर ने सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का समर्थन किया। न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की गई। इस प्रकार न्यायपालिका और व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता में समन्वय स्थापित किया गया।

निष्कर्ष :- संविधान के विभिन्न प्रावधानों के सम्बन्ध में संविधान निर्माताओं द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से यह नितान्त स्पष्ट है कि संविधान निर्माता सिद्धांतवादिता के स्थान पर व्यवहारिकता से प्रेरित थे।

संविधान सभा में अधिकांश निर्णय सामान्य राय से लिये जाने का प्रयास किया गया।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:33

व्यवस्थापिका के प्रमुख...
panwarplus.com

व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्य एवं शक्तियाँ

Panwar Plus December 06, 2021

व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्य एवं शक्तियाँ

व्यवस्थापिका का अर्थ-

आधुनिक **लोकतांत्रिक** राज्य में कानून के निर्माण तथा प्रशासन की नीतियों के निर्धारण करने वाली संस्थाओं को व्यवस्थापिका नाम से अभिहित किया जाता है। **सी. एफ. स्ट्रांग** के शब्दों में, "**व्यवस्थापिका** शासन का वह अंग है, जिसका सम्बन्ध **विधि के निर्माण** से है।"

अत: सामान्य अर्थ में **व्यवस्थापिका** कानून निर्माण का ही कार्य नहीं करती है, बल्कि यह अधिकारों से युक्त व्यक्तियों का सामूहिक संगठन है जो विधि-निर्माण के कार्य के साथ-साथ शासन के अन्य दोनों अंगों-कार्यपालिका और न्यायपालिका को आधार प्रदान करता है।

आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य में यद्यपि व्यवस्थापिका के कार्यों को लेकर अत्यधिक मतभेद है तथापि इसके कार्यों को दो प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है- (क) व्यवस्थापिकाओं के सरकारी कार्य (ख) व्यवस्थापिकाओं के राजनीतिक व्यवस्थागत कार्य। सरकारी कार्यों का स्वरूप जहाँ औपचारिक है, वहीं राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों का स्वरूप अनौपचारिक है। इन कार्यों का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित हैं-

व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्य एवं शक्तियाँ

(क) व्यवस्थापिकाओं के सरकारी या संवैधानिक कार्य-

(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य- व्यवस्थापिका का सबसे प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कार्य कानूनों का निर्माण करना होता है और सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका के द्वारा यह कार्य किया जाता है। प्रत्येक देश में कानून निर्माण की जो प्रक्रिया होती है, उसके अनुसार ही कानूनों का निर्माण किया जाता है। सभी कानून निश्चित प्रक्रिया में होकर गुजरते हैं। यह विभाग कानून का प्रारूप अर्थात् विधेयक तैयार करता है, उस पर बहस करता है और फिर उन्हें स्वीकृत कर कानून का रूप प्रदान करता है।

(2) संविधान संशोधन का कार्य- प्राय: सभी देशों में **व्यवस्थापिका** का अन्य प्रमुख कार्य संविधान में संशोधन का कार्य है, यद्यपि विभिन्न देशों में **व्यवस्थापिका** के द्वारा यह कार्य भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के आधार पर किया जाता है। जैसे- इंग्लैण्ड में पार्लियामेन्ट' अपने सामान्य बहुमत से ही संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन कर सकती है वही अमेरिका में कांग्रेस अपने दोनों सदनों के दो-तिहाई मतों से संविधान में किसी विशेष संशोधन के लिए प्रस्ताव रख सकती है और वह संविधान के साधारण संशोधन के लिए महासभा बुला सकती है। भारत में संसद दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन कर सकती है।

(3) **विमर्शात्मक कार्य-** वर्तमान समय में **व्यवस्थापिका** के लिए सामान्यतया जिस **'पार्लियामेन्ट** (Parliament) शब्द का प्रयोग किया जाता है वह फ्रेंच शब्द **'पार्लमेन्ट'** से लिया गया है। जिसका अर्थ 'विचार के लिए सभा' है। **व्यवस्थापिका** में विभिन्न समुदायों, स्वार्थों और दृष्टिकोणों के प्रतिनिधियों के मध्य विस्तृत एवं स्वतन्त्र विचार-विमर्श होता है और अपने इस कार्य के आधार पर व्यवस्थापिका को 'लोकमत का दर्पण' कहा जा सकता है। व्यवस्थापिका विचारों के आदान-प्रदान का यह कार्य किन्हीं निश्चित नियमों के आधार पर करती है, जिन्हें 'व्यवस्थापिका के कार्य संचालन के नियम' कहा जा सकता है।

(4) राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण- वर्तमान समय में व्यवस्थापिका कानूनों के निर्माण के साथ-ही-साथ राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखने का कार्य करती है।' बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं (No Taxation without Representation) का सिद्धान्त वित्तीय क्षेत्र में **व्यवस्थापिका** की सर्वोच्चता का प्रतीक है। वास्तव में जनता की प्रतिनिधि व्यवस्थापिका द्वारा जनता के धन अर्थात् राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखना स्वाभाविक ही है। अपनी इसी शक्ति के अन्तर्गत **व्यवस्थापिका** यह निश्चित करती है कि किन साधनों से धन प्राप्त किया जाए और इस धन को जनहितकारी कार्यों पर किस प्रकार से खर्च किया जाये। व्यवस्थापिकाओं की वित्त पर नियन्त्रण स्थापित करने की शक्ति व्यावहारिक दृष्टि से निम्न बातों पर निर्भर करती है-

(i) शासन प्रणाली संसदीय है अथवा अध्यक्षीय।

(ii) संसद में दलीय पद्धति का स्वरूप किस प्रकार का है।

(iii) वित्तीय शक्तियों पर वैधानिक अंकुश है या नहीं।

(iv) कार्यपालिका का विधानमण्डल पर कितना नियन्त्रण है।

(v) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में दोनों सदनों की वित्तीय शक्तियों की स्थिति क्या है?

(5) प्रशासन पर नियन्त्रण- यद्यपि **व्यवस्थापिका** प्रशासनिक कार्यों में सीधे तौर पर भाग नहीं लेती; लेकिन प्रशासन पर कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य ही रखती है। **व्यवस्थापिका** द्वारा प्रशासन सम्बन्धी कार्य संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन पद्धतियों में भिन्न-भिन्न रूपों में किया जाता है-

(A) संसदीय शासन में- संसदीय शासन में व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियन्त्रण होता है। **व्यवस्थापिका** द्वारा कार्यपालिका पर यह नियन्त्रण प्रश्न, पूरक प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion), निन्दा प्रस्ताव, बजट में कटौती आदि प्रभावशाली विधियों द्वारा रखा जाता है और अन्तिम रूप में व्यवस्थापिका 'अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है।

(B) अध्यक्षात्मक शासन में- अमेरिका जैसे अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में भी **व्यवस्थापिका** (कांग्रेस) प्रशासन के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण शक्तियों का उपभोग करती है। प्रथम, **राष्ट्रपति** द्वारा की गयी सन्धियों और नियुक्तियों के लिए सीनेट, जो कि कांग्रेस का उच्च सदन है, की स्वीकृति आवश्यक है। द्वितीय, सीनेट के द्वारा जहाँ समितियों की नियुक्ति करके प्रशासन के विभिन्न विभागों के कार्यों की जाँच की जा सकती है। इन समितियों का महत्त्व इस बात से स्पष्ट है कि अमेरिका में इन समितियों को "**मछली पकड़ने का जाल**" (Fishing tuips) कहा जाता है। तृतीय, अमरीकी व्यवस्थापिका युद्ध और शान्ति की घोषणा करती है।

(6) न्याय सम्बन्धी कार्य- अधिकांश देशों में **व्यवस्थापिका** कुछ न्याय सम्बन्धी कार्य भी करता है। इंग्लैण्ड में तो व्यवस्थापिका का उच्च सदन **'लार्ड सभा'** उच्चतम अपील न्यायालय के रूप में ही कार्य करता है। फ्रांस की 'गणतन्त्र परिषद्' (Council of Republic) अमेरिका की कांग्रेस और भारत की संसद को भी उच्च कार्यपालिका पदाधिकारियों पर **महाभियोग** लगाने और उसका निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है।

(7) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य- अधिकांश देशों में **व्यवस्थापिकाएँ** निर्वाचन सम्बन्धी कुछ कार्य भी करती हैं । उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैण्ड की व्यवस्थापिका **मंत्रिपरिषद** के सदस्यों, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति का चुनाव करती है। सोवियत संघ में व्यवस्थापिका मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। भारत में भी संघीय व्यवस्थापिका तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा **राष्ट्रपति** का निर्वाचन किया जाता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि **व्यवस्थापिका** विधि-निर्माण का ही एकमात्र कार्य नहीं करती, वरन् वह अन्य क्षेत्रों में भी प्रभावशाली कार्य करती है। गार्नर ने बिल्कुल ठीक कहा है कि,"अधिकांश देशों में व्यवस्थापिका केवल विधि-निर्माण करने वाला अंग ही नहीं है प्रत्युत साथ ही साथ यह अन्य विभिन्न कार्य भी करती है, जैसे निर्वाचन सम्बन्धी, न्यायिक निर्देशन व कार्यपालिका सम्बन्धी।"

(ख) व्यवस्थापिकाओं के राजनीतिक कार्य-

आधुनिक काल में **व्यवस्थापिकाएँ** सरकारी और संवैधानिक कार्यों के अतिरिक्त राजनीतिक कार्य भी निष्पादित कर रही हैं। कुछ प्रमुख राजनीतिक कार्य निम्नलिखित हैं-

(1) प्रतिनिधित्व का कार्य- व्यवस्थापिकाएँ सही अर्थों में जन-सम्प्रभुता का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस हेतु समय-समय पर चुनाव कराये जाते हैं। लोकतांत्रिक राज्यों में तो इनको प्रतिनिधि संस्थाएँ कहा ही जाता है, लेकिन साम्यवादी देशों तक में **विधानसभाएँ** कुछ-न-कुछ प्रतिनिधित्व का कार्य सम्पादित करने के लिए संगठित की जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि **व्यवस्थापिकाएँ** किसी-न-किसी रूप में प्रतिनिधित्व व्यवस्था की यांत्रिकी संरचना है।

(2) हित-स्वरूपीकरण और हित-समूहीकरण का कार्य- आधुनिक काल में **व्यवस्थापिकाओं** का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हित-स्वरूपीकरण का हो गया है। समाज में लोगों के विभिन्न हित होते हैं और उनमें परस्पर विरोध भी होता है। व्यवस्थापिकाएँ इन हितों को पूरा करके या उन हितों की सुरक्षा करके या इनके प्रस्तुत करने वालों को उकसा कर इनमें सामंजस्य स्थापित करती हैं। **व्यवस्थापिका** में ही समाज के संघर्ष अपना प्रकट रूप लेते हैं और वहाँ ही परस्पर विवादों आदि के द्वारा वे हित अपना स्वरूप लेते हैं। हित स्वरूपीकरण के बाद **व्यवस्थापिकाएँ** ही इन हितों का समूहीकरण भी करती हैं। हित समूहीकरण से अभिप्राय है- विभिन्न हितों व माँगों में परस्पर **सामंजस्य** स्थापित करना। इस काम में व्यवस्थापिका को अनुनय, समझौते, समझाने-बुझाने से लेकर विधि निर्माण आदि कार्य करने पड़ते हैं।

10:37

44

इकाई- 5 राष्ट्रपति

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राष्ट्रपति
5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन
    5.3.1 योग्यता
    5.3.2 निर्वाचन
    5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ
    5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि
    5.3.5 उन्मुक्तियां
    5.3.6 वेतन
    5.3.7 महाभियोग की प्रक्रिया
5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ
    5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ
    5.4.2 विधायी शक्तियाँ
    5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ
    5.4.4 सैनिक शक्तियाँ
    5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ
    5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ
5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाइयों के अध्ययन से आप को भारतीय प्रशासन के विभिन्न पक्षों के बारे में जानने में सहायता मिली है। प्रस्तुत इकाई में हम भारत में संघ के कार्यपालिका के प्रमुख, राष्ट्रपति के बारे में जान सकेंगे। इसके अध्ययन से हम राष्ट्रपति के निर्वाचन, उनकी शक्तियों और उनकी संवैधानिक स्थिति तथा वास्तविक स्थिति के बारे में भी जान सकेंगे।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:37

44

Convert this document and share it as an image

Share

इस इकाई के अध्ययन से हमें आगे की इकाइयों में प्रधानमन्त्री सहित मंत्री-परिषद के वास्तविक कार्यपालिका प्रधान के रुप में समझने में सहायता मिलेगी। साथ ही संसदीय शासन की परम्परा में राष्ट्रपति पद के महत्व को और भी स्पष्ट रुप से समझने में सहायता मिलेगी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया के बारे में जान सकेंगे।
- राष्ट्रपति की शक्तियों को जान सकेंगे।
- यह जान सकेंगे कि वह कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान ही नहीं है।

5.2 राष्ट्रपति

शासन के तीन अंग होते हैं, जो क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका हैं। व्यवस्थापिका का सम्बन्ध कानून निर्माण से है, कार्यपालिका का सम्बन्ध व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों और नीतियों के क्रियान्वयन से है, जबकि न्यायपालिका का सम्बन्ध न्यायिक कार्यों से है।

संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर राष्ट्रपति होता है। चूँकि राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान है (नाममात्र की कार्यपालिका) फिर भी उनके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त किया गया है। वह राज्य के शक्तिशाली शासक हाने की अपेक्षा, भारत की एकता के प्रतीक हैं। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक तंत्र को संतुलित कर सकता है।

5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक गणतन्त्र है। गणतन्त्र में राष्ट्र का अध्यक्ष वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित होता है। राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से होता है।

5.3.1 योग्यता

राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए निम्नलिखित योग्यताऐं आवश्यक हैं -

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
3. वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,
4. वह संघ सरकार और राज्य सरकारों या स्थानीय सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो,
5. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और मन्त्रियों के पद लाभ के पद नहीं माने जाते, इसलिए उन्हें त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं होती।

5.3.2 निर्वाचन

अनुच्छेद- 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के सदस्य करते है जिसमें-

1. संसद के दोनों सदनों (लोक सभा, राज्य सभा) के निर्वाचित सदस्य।
2. राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:37

44

राष्ट्रपति के निर्वाचन में संघीय संसद के साथ-साथ राज्यों के विधान सभाओं के सदस्यों को शामिल कर इस बात का प्रयत्न किया गया है, कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो तथा संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तव में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान के 71वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि पोण्डेचेरी और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधान सभाओं के सदस्य, राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल में शामिल किये जायेंगे।

1957 के राष्ट्रपति चुनाव में कुछ स्थान रिक्त होने पर राष्ट्रपति के चुनाव की वैधता को चुनौती दी गयी। न्यायालय ने अपने निर्णय में ऐसी स्थिति में भी चुनाव संभव बताया। इस समस्या के निराकरण हेतु 1961 में 11वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद- 71 में उपबन्ध किया गया है कि निर्वाचक मंडल का स्थान रिक्त होने पर भी चुनाव वैध हैं।

राष्ट्रपति का निर्वाचन ऊपर वर्णित निर्वाचन मण्डल द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है, अनुच्छेद 55(3)। मतदान गुप्त होता है। इस पद्धति में चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा प्राप्त करना होता है। न्यूनतम काटा निर्धारण का सूत्र इस प्रकार है-

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिये गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रत्याशियों की संख्या}} + 1$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचन मण्डल के सदस्यों के मतों का मूल्य समान नहीं होता है। कुछ राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य अधिक जनसंख्या का और कुछ कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए विधान सभा सदस्य के मत का मूल्य उनकी जनसंख्या के अनुपात में होता है। साथ ही राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र और राज्य को बराबर की हिस्सेदारी देने के लिए सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के समस्त सदस्यों के मत मूल्य और संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों के मूल्य बराबर रखने पर जोर दिया जाता है। जिससे राष्ट्रपति का चुनाव दलगत राजनीति का शिकार न हो और वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि हो सके।

मत मूल्य निकालने का तरीका-

$$\text{विधान सभा के एक सदस्य के मत का मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{कुल विधायकों की संख्या} \times 100}$$

$$\text{संसद सदस्य के एक मत का मूल्य} = \frac{\text{सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों विधान सभा सदस्यों के मतों का मूल्य}}{\text{संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में उस प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जो न्यूनतम कोटा अर्थात आधे से अधिक मत प्राप्त करे। राष्ट्रपति के निर्वाचन में जितने प्रत्याशी होते हैं, मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है। मतदाता अपना मत वरीयता क्रम के आधार पर देता है। जैसे-

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:37

44

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

	प्रत्याशी	A	B	C	D
मतदाता	P	1	3	2	4
	G	2	1	3	4
	R	4	1	2	3
	S	3	1	2	4
	T	2	3	1	4

इस आरेख में चार प्रत्याशी A, B, C, D, हैं, मतदाता P, G, R, S, T हैं, जिन्होंने अपने मत वरीयता के आधार पर राष्ट्रपति प्रत्याशी को दिये हैं। सर्वप्रथम, प्रथम वरीयता के मत की गणना की जाती है। यदि उसे न्यूनतम कोटा प्राप्त हो जाय तो वह विजयी घोषित होता है। यदि कोटा न प्राप्त हो सके तो द्वितीय वरीयता के मत की गणना होती है। इस द्वितीय दौर में जिस उम्मीदवार को प्रथम वरीयता का सबसे कम मत मिला हो उसे गणना से बाहर कर, उसके द्वितीय वरीयता के मतमूल्य को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय दौर की गणना में किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो तो तीसरे दौर की मतगणना होती है, जिसमें दूसरे दौर की मतगणना में सबसे कम मतमूल्य पाने वाले प्रत्याशी के तीसरे वरीयता के मतमूल्य को शेष उम्मीदवारों को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक अपनायी जाती है, जब तक किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो जाय।

5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ

राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने से पूर्व अनुच्छेद- 60 के तहत भारत के मुख्य न्यायाधीश या उनकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष अपने पद की शपथ लेता है।

5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद- 56 के अनुसार राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से, पाँच वर्ष की अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। इस पाँच वर्ष की अवधि के पूर्व भी वह उपराष्ट्रपति को वह अपना त्यागपत्र दे सकता है या उसे पाँच वर्ष की अवधि से पूर्व संविधान के उल्लंघन के लिए संसद द्वारा महाभियोग से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति अपने पाँच वर्ष के कार्यकाल पूर्ण होने के बाद तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि इसके उत्तराधिकारी द्वारा पद ग्रहण न कर लिया जाए।

5.3.5 उन्मुक्तियाँ

राष्ट्रपति अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रुप से उत्तरदायी नहीं होता है। अपने पद के कर्तव्यों एवं शक्तियों का प्रयोग करते हुए, उनके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

5.3.6 वेतन

राष्ट्रपति को इस समय 150000 रु0/ माह वेतन है। अनुच्छेद 59(3) अनुसार कार्यकाल के दौरान उनके वेतन और उपलब्धियों में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती है।

10:38
44

5.3.7 महाभियोग प्रक्रिया

राष्ट्रपति को अनुच्छेद- 61 के अनुसार महाभियोग प्रक्रिया द्वारा, संविधान के अतिक्रमण के आधार पर हटाया जा सकता है। संसद के जिस सदन में महाभियोग का संकल्प प्रस्तुत किया गया हो, उसके एक-चौथाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षर सहित आरोप-पत्र राष्ट्रपति को 14 दिन पूर्व दिया जाना आवश्यक है। इस सदन में संकल्प को दो तिहाई बहुमत से पारित करके दूसरे सदन को भेजा जाएगा, जो राष्ट्रपति पर लगे इन आरोपों की जाँच करेगा। इस दौरान राष्ट्रपति स्वयं या अपने प्रतिनिधि के द्वारा अपना पक्ष रख सकता है। यदि दूसरा सदन आरोपों को सही पाता है और उसे अपनी संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति पद त्याग के लिए बाध्य होता है।

अभ्यास प्रश्न- 1

1. राष्ट्रपति के चुनाव में कौन-कौन भाग लेता है?
2. राष्ट्रपति का कार्य काल कितने वर्ष का होता है?
3. राष्ट्रपति पर महाभियोग किस अनुच्छेद के तहत लगाया जाता है?

5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

हमारे संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक शक्तिया प्रदान की गयी हैं,जो निम्नलिखित हैं-

5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद- 53(1) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इस शक्ति का प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।

अनुच्छेद- 74 के अनुसार राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्री-परिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में मंत्री-मण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करेगा। इसके आगे संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा यह जोड़ा गया कि यदि मंत्री-परिषद की सलाह पर राष्ट्रपति पुनर्विचार करने को कह सकेगा, परन्तु राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। राष्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों में मंत्री-परिषद का गठन महत्वपूर्ण है। संसदीय परम्परा के अनुरुप निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता को राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करता है तथा प्रधानमन्त्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। अब तक नियुक्त अधिकांश प्रधानमन्त्री लोक सभा के सदस्य रहे हैं। श्रीमती इन्दिरा गाँधी पहली ऐसी प्रधानमन्त्री थी जो राज्य सभा से मनोनीत सदस्य थी। पूर्व प्रधानमन्त्री डा0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य थे। संविधान के 91वें संशोधन 2003 द्वारा अनुच्छेद-75(1क) के अनुसार मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करते हैं। अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार, मंत्री-परिषद के सदस्य सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार, कोई भी मन्त्री, निरन्तर छः मास तक संसद के किसी सदन का सदस्य हुए बिना भी मन्त्री रह सकता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब लोक सभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले अथवा लोक सभा में अविश्वास मत के कारण मंत्री-परिषद को त्याग-पत्र देना पड़े, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति किस व्यक्ति को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करे, इस सम्बन्ध में संविधान मौन है। इस सबन्ध में राष्ट्रपति को स्वविवेकाधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध में संसदीय परम्परा के अनुरुप सर्वप्रथम सबसे बड़े दल के नेता तथा जो बहुमत सिद्ध कर सकता है, उसे प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

इसके साथ-साथ राष्ट्रपति को संघ के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति की शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति, नियन्त्रक-महालेखक की नियुक्ति, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति, राज्यपाल की नियुक्ति, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति, मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयोग के अन्य सदस्य की नियुक्ति, अनुसूचित जातियों जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति, भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति।

ये सभी नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा मंत्री-परिषद की सलाह पर या संविधान द्वारा निश्चित व्यक्तियों से परामर्श के पश्चात की जाती है। राष्ट्रपति को उपर्युक्त अधिकारियों को हटाने की भी शक्ति प्राप्त है।

5.4.2 विधायी शक्तियाँ

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संविधान के अनुच्छेद- 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद का गठन राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा से मिलकर होता है। इस प्रकार संसद का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण विधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं। कोई भी विधेयक संसद के दोनों सदनों (लोक सभा और राज्य सभा) द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही अधिनियम का रुप लेता है।

संसद का अंग होने के नाते राष्ट्रपति को लोक सभा और राज्य सभा का सत्र आहूत करने और उसका सत्रावसान करने की शक्ति है। अनुच्छेद- 85 के अनुसार वह लोक सभा का विघटन कर सकता है। अनुच्छेद-108 के अनुसार वह साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में विवाद होने पर संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। अनुच्छेद- 87 के अनुसार राष्ट्रपति प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात प्रथम सत्र के प्रारम्भ पर और प्रत्येक वर्ष के पहले सत्र के प्रारम्भ पर एक साथ संसद के दोनों सदनों में अभिभाषण करता है। इसके अतिरिक्त किसी एक सदन या दोनों सदनों में एक साथ अभिभाषण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा में 12 सदस्यों को मनोनीत कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान या समाजसेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त हों और अनुच्छेद- 331 के अनुसार लोक सभा में दो सदस्यों को आंग्ल भारतीय समुदाय से मनोनीत कर सकता है।

संविधान के उपबन्धों और कुछ अधिनियमों का अनुपालन करने के लिए राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि कुछ प्रतिवेदनों को संसद के समक्ष रखवायेगा। इसका उद्देश्य यह है कि संसद को उन प्रतिवेदनों और उस पर की गयी कार्यवाही पर विचार करने का अवसर प्राप्त हो जाएगा। राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि निम्नलिखित प्रतिवेदनों और दस्तावेजों को संसद के समक्ष रखवाएं।

- अनुच्छेद- 112 के अनुसार- वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट),
- अनुच्छेद- 151 के अनुसार- नियन्त्रक महालेखक का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 281 के अनुसार- वित्त आयोग की सिफारिशें,
- अनुच्छेद- 323 के अनुसार- संघ लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 340 के अनुसार- पिछड़ा वर्ग आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 348 के अनुसार- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग का प्रतिवेदन,

10:38

44

- अनुच्छेद- 94(क) के अनुसार- राष्ट्रपति अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए, भारतीय संविधान के अंग्रेजी भाषा में किए गये प्रत्येक संशोधन का हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित करायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ विषयों पर कानून बनाने के लिए, उस पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक है। जैसे-

अनुच्छेद- 3 के अनुसार नये राज्यों के निर्माण या विद्यमान राज्य की सीमा में परिवर्तन से संबंधित विधेयकों पर। अनुच्छेद- 117(1) धन विधेयकों के सम्बन्ध में। अनुच्छेद- 117(3) ऐसे व्यय से संबंधित विधेयक, जो भारत की संचित निधि से किया जाना हो। अनुच्छेद- 304 के अनुसार, राज्य सरकारों के ऐसे विधेयक जो व्यापार और वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रभाव डालते हों।

इस बात का हम उल्लेख कर चुके हैं कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति न प्रदान करें। राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है, विधेयक को रोक सकता है या दोनों सदनों द्वारा पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है। यदि संसद पुनर्विचार के पश्चात विधेयक को राष्ट्रपति को वापस करती है, तो वह अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं कर सकता है, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही लोक सभा में रखा जाता है।

2006 में लाभ के पद से संबंधित संसद अयोग्यता निवारण संशोधन विधेयक लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया, जिसे राष्ट्रपति ए0पी0जे0 कलाम ने पुनर्विचार के लिए, यह कहते हुए वापस कर दिया कि सांसदों और विधायकों को लाभ के पद के दायरे से बाहर रखने के व्यापक आधार बताए जाऐं। संसद के दोनों सदनों ने इसे पुनः मूल रुप में ही पारित कर दिया। यह पहला अवसर था कि राष्ट्रपति की आपत्तियों पर विचार किए बिना ही विधेयक को उसी रुप में पारित कर दिया गया।

राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित ऐसा विधेयक जो उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को प्रभावित करता है तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित कर लेगा।
2. वित्तीय आपात काल लागू होने की स्थिति में, राष्ट्रपति यह निर्देश दे सकता है कि राज्य विधान सभा में प्रस्तुत किये जाने से पूर्व सभी धन विधेयकों पर उसकी अनुमति ली जाय।
3. सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।
4. राज्य के अन्दर या अन्य राज्यों के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगानें वाले विधेयकों को विधान सभा में प्रस्तुत करनें से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है।
5. **अध्यादेश जारी करने की शक्ति-** जब संसद सत्र में न हो और राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि वर्तमान परिस्थिति में यथाशीघ्र कार्यवाही की आवश्यकता है, तो वे अनुच्छेद- 123 के अनुसार अध्यादेश जारी करते हैं। इस अध्यादेश का प्रभाव संसद द्वारा पारित और राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अधिनियम के समान ही होता है। किन्तु अधिनियम स्थायी होता है और अध्यादेश का प्रभाव केवल छः माह तक ही रहता है। छः माह के अन्दर यदि अध्यादेश को संसद की स्वीकृति न प्राप्त हो तो वह स्वतः ही समाप्त हो जाएगा।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:38 44

6. **वीटो (निषेधाधिकार) की शक्ति-** यह कार्यपालिका की शक्ति है, जिसके द्वारा वह किसी विधेयक को अनुमति देने से रोकता है। अनुमति देने से इन्कार करता है या अनुमति देने में विलम्ब करता है। वीटो के कई प्रकार हैं-

- **आत्यंतिक वीटो या पूर्ण वीटो-** यह वह वीटो है, जिसमें राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को अनुमति देने से इन्कार कर देता है। पूर्ण वीटो का प्रयोग धन विधेयक के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है।
- **निलम्बनकारी वीटो-** जिस वीटो को सामान्य बहुमत से समाप्त किया जा सकता है, उसे निलम्बनकारी वीटो कहा जाता है। इस प्रकार के वीटो का प्रयोग हमारे राष्ट्रपति उस समय करते हैं जब अनुच्छेद- 111 के अनुसार वे किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस करते हैं।
- **पाकेट वीटो या जेबी वीटो-** संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति न तो अनुमति देता है और न ही पुनर्विचार के लिए वापस करता है, तब वह जेबी वीटो का प्रयोग करता है। हमारे संविधान में यह स्पष्ट उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति कितने समय के भीतर विधेयक को अपनी अनुमति देगा। फलतः वह विधेयक को अपनी मेज पर अनिश्चित काल तक रख सकता है। जेबी वीटो का प्रयोग 1986 में संसद द्वारा पारित भारतीय डाक अधिनियम के सन्दर्भ में राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने किया था।

5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ

यहाँ हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि 21वीं सदी में भू-मण्डलीकरण की प्रक्रिया चल रही है। इस प्रक्रिया ने एक राष्ट्र के हित को विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया है। राष्ट्रों के मध्य आपसी संबंधों का संचालन राजनयिकों के द्वारा होता है। हमारे देश में राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है। इसलिए अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों के संचालन की शक्ति भी राष्ट्रपति को प्रदान की गयी है और अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों का संचालन भी राष्ट्रपति के नाम से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मामले में वे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की ओर से भेजे जाने वाले राजदूत की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं। दूसरे देशों से भारत में नियुक्त होने वाले राजदूत और उच्चायुक्त अपना परिचय-पत्र राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इन सभी विषयों में राष्ट्रपति मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार कार्य करता है।

5.4.4 सैनिक शक्तियाँ

जैसा कि हम इस इकाई में पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं, इसी कारण से वह तीनों सेनाओं का प्रधान सेनापति है। किन्तु हमारे राष्ट्रपति की सैन्य शक्तियाँ अमेरिका के राष्ट्रपति के समान नहीं हैं, क्योंकि ये अपनी शक्तियों के प्रयोग संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार करते हैं। जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति पर इस प्रकार के कोई प्रतिबंध नहीं है।

5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ

भारतीय संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक रुप से न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो निम्नलिखित हैं-

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

1. **न्यायाधीशों की नियुक्ति-** अनुच्छेद- 217 के के अनुसार राष्ट्रपति उच्च न्यायालय और अनुच्छेद- 124 के तहत उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश से परामर्श कर सकते हैं। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करते हैं।
2. **क्षमादान की शक्ति-** राष्ट्रपति को कार्यपालिका और विधायी शक्तियों के साथ-साथ न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनमें क्षमादान की शक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो अनुच्छेद- 72 के अनुसार प्राप्त है। वे इस क्षमादान की शक्ति के तहत किसी दोषी ठहराये गये व्यक्ति के दण्ड को क्षमा तथा सिद्ध दोष के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग निम्नलिखित परिस्थितियों में करते हैं। सेना द्वारा दिये गये दण्ड के मामले में, जब दण्ड ऐसे विषयों के मामले में दिया गया हो जो संघ के कार्यपालिका क्षेत्र में आते हों, ऐसी परिस्थिति में जब किसी व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया गया हो, क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी वह मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार करता है।

   क्षमादान की इस शक्ति को देने के पीछे सोच यह है कि न्यायाधीश भी मनुष्य होते हैं। इसलिए उनके द्वारा की गयी किसी भूल को सुधारने की गुंजाइस बनी रहे।
3. **उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार-** हमारे संविधान के अनुच्छेद- 143 के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को ऐसा कभी प्रतीत होता है कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है, जो ऐसी प्रकृति और व्यापक महत्व का है तो उस पर उच्चतम न्यायालय से राय माँग सकता है। इस प्रकार की राय राष्ट्रपति पर बाध्यकारी नहीं होती है। इसके साथ-साथ उच्चतम न्यायालय को यदि वह आवश्यक समझे तो अपनी राय देने से इन्कार कर सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अन्य अधिकार प्राप्त हैं। जैसे- संविधान के अनुच्छेद- 130 के अनुसार, यदि सर्वोच्च न्यायालय अपना स्थान दिल्ली के बजाय किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित करना चाहे तो इसके लिए राष्ट्रपति से अनुमति लेना आवश्यक है।

5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ

हमारे संविधान निर्माता गुलामी की दुःखद घटना और आजादी की लम्बी लड़ाई के पश्चात आजाद हो रहे देश के दुःखद विभाजन से परिचित थे। इसलिए देश में भविष्य में उत्पन्न होने वाली संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को विस्तृत आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। हमारे संविधान के भाग-18 के अनुच्छेद- 352 से अनुच्छेद- 360 तक राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का उपबन्ध किया गया है। ये शक्तियाँ निम्नलिखित तीन प्रकार की हैं-

1. **राष्ट्रीय आपात-** संविधान के अनुच्छेद- 352 में यह उपबन्ध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाय कि युद्ध, वाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है या संकट में होने की आशंका है, तो उनके द्वारा आपात की उद्-घोषणा की जा सकती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में सशस्त्र विद्रोह की जगह आन्तरिक अशान्ति शब्द था। 1975 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के लोक सभा चुनाव को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा रद्द किये जाने के पश्चात आन्तरिक अशान्ति के नाम पर प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय आपात की घोषणा की।

1977 के लोक सभा के चुनाव में कांग्रेस को पराजय का मुंह देखना पड़ा। जनता पार्टी की सरकार बनी। इस सरकार नें 1979 के 44वें संविधानिक संशोधन के द्वारा आन्तरिक अशान्ति के स्थान पर सशस्त्र विद्रोह शब्द रखा गया। साथ ही यह भी उपबन्ध किया गया कि आपातकाल की घोषणा अब संघ के मंत्री-मण्डल (प्रधानमन्त्री और मंत्री-मण्डल स्तर के अन्य मंत्री) की सिफारिश से राष्ट्रपति द्वारा ही की जाएगी।

राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के द्वारा विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में इस घोषणा को लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पृथक-पृथक कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपात की घोषणा के समय यदि लोक सभा का विघटन हुआ है, तो एक माह के अन्दर राज्य सभा की विशेष स्वीकृति आवश्यक है। नवगठित लोकसभा के द्वारा उसकी प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपातकाल को यदि आगे भी लागू रखना है तो उसे प्रत्येक छः माह पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि आपातकाल की घोषणा एक सदन द्वारा की जाय और दूसरा सदन अस्वीकार कर दे, तो यह घोषणा एक माह के पश्चात समाप्त हो जाएगी। इस आपात काल को संसद साधरण बहुमत से समाप्त कर सकती है।

संविधान के 38वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबंध किया गया कि आपात काल की उद्-घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया। संविधान के प्रारम्भ में यह उपबन्ध था कि अनुच्छेद- 352 के अनुसार आपातकाल को पूरे देश में ही लागू किया जा सकता है, किसी एक भाग में नहीं। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि आपात काल की उद्-घोषणा देश के किसी एक भाग या कई भागों में की जा सकती है।

- अभी तक कुल तीन बार राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है। पहली बार, 26 अक्टूबर 1962 से 10 जनवरी 1968 तक चीनी आक्रमण के कारण। दूसरी बार, पाकिस्तान के द्वारा आक्रमण के कारण 03 दिसम्बर 1971 को घोषणा की गयी तथा तीसरी बार, 25 जून 1975 को आन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपातकाल की घोषणा की गयी, इनकी समाप्ति 21 मार्च 1977 को की गयी।
- अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार, जब आपात की उद्-घोषणा की गयी हो तब लोक सभा अपने कार्यकाल को एक साल के लिए बढा सकती है। किन्तु आपात की उद्-घोषणा के समाप्त होने पर, यह कार्यकाल वृद्धि अधिकतम छः मास तक ही चल सकती है। अनुच्छेद- 250 के अनुसार, आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान संबंधित राज्य में संसद को राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि राज्य की विधायी शक्तियाँ राज्य के पास बनी रहती है, किन्तु उन पर निर्णायक शक्ति संसद के पास रहती है।
- हम उपर इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि अनुच्छेद- 73 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति उन विषयों तक सीमित है, जिन पर संसद को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान केन्द्र सरकार जहाँ आपातकाल लागू है, उस राज्य के

साथ ही साथ देश के किसी भी राज्य को यह निर्देश दे सकता है कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे।

- संविधान के अनुच्छेद- 354 में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रपति के आदेश से केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध को उस सीमा तक परिवर्तित किया जा सकता है, जिस सीमा तक की स्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक हो। राष्ट्रपति के इस प्रकार के आदेश को यथाशीघ्र संसद के समक्ष रखना आवश्यक होता है।
- वाह्य आक्रमण के कारण यदि राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है, तो अनुच्छेद- 358 के अनुसार, अनुच्छेद- 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अधिकार निलंबित हो जाता है। जबकि अनुच्छेद- 359 के तहत उन्हीं अधिकारों का निलंबन होता है, जो राष्ट्रपति के आदेश में स्पष्ट किया गया हो। इसके बावजूद भी अनुच्छेद- 20 और 21 के तहत प्रदत्त मूल अधिकारों का निलंबन किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता है।

2. **राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता-** अनुच्छेद- 355 में यह उपबन्ध है कि संघ सरकार का यह दायित्व है कि वह राज्यों की वाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करे। साथ ही यह भी देखे कि प्रत्येक राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार चल रहा हो। अनुच्छेद- 356(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाए कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार न चलने के कारण संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है तो वह राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। राष्ट्रपति का यह समाधान राज्यपाल के प्रतिवेदन पर भी आधारित हो सकता है। अनुच्छेद- 365 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध अनुच्छेद- 356 का प्रयोग उस समय भी कर सकता है, जब संबंधित राज्य की सरकार संघ सरकार के निर्देशों का पालन करने में असफल हो जाती है।

   राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा दो माह के लिए होती है, किन्तु यदि घोषणा के पश्चात लोक सभा का विघटन हो जाता है तो नवीन लोक सभा के गठन के बाद प्रथम बैठक के तीस दिन के बाद घोषणा तभी लागू रह सकती है जब कि नवीन लोक सभा उसका अनुमोदन कर दे। इस प्रकार की घोषणा एक बार में छः माह के लिए और अधिकतम तीन वर्ष(पंजाब में पाँच वर्ष तक लागू थी) के लिए लागू की जा सकती है। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि एक वर्ष से अधिक समय तक राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए दो आवश्यक शर्तें हैं, पहली- जब सम्पूर्ण देश में या उसके किसी एक भाग में अनुच्छेद- 352 के तहत राष्ट्रीय आपात काल की घोषणा लागू हो और दूसरी- निर्वाचन आयोग इस बात को प्रमाणित करे कि संबंधित राज्य में वर्तमान परिस्थितियों में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

   - **राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का प्रभाव-** राष्ट्रपति इस बात की घोषणा कर सकता है कि राज्य के कानून निर्माण की शक्ति का प्रयोग संसद करेगी। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनुच्छेद- 356 की घोषणा के पश्चात यह आवश्यक नहीं है कि विधान सभा का विघटन कर दिया जाय। विधान सभा को केवल निलंवित भी किया जा सकता है। यदि संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की अनुमति दे सकता है। राष्ट्रपति कार्यपालिका सम्बन्धी सभी या आंशिक कृत्यों को अपने हाथों में ले सकता है, उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़कर।

- **अनुच्छेद- 352 और अनुच्छेद- 356 की तुलना-** जैसा कि ऊपर आप देख चुके हैं अनुच्छेद- 352 और 356 का प्रयोग राष्ट्रपति करते हैं, किन्तु दोनों के प्रभावों में अन्तर हैं। जब किसी राज्य में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की जाती है तो संसद को समवर्ती-सूची के साथ-साथ राज्य-सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, किन्तु राज्य विधान सभा और कार्यपालिका का अस्तित्व बना रहता है और वे अपना कार्य भी करती रहती हैं, परन्तु अनुच्छेद- 356 के तहत जब राष्ट्रपति किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा करते हैं, तो संबंधित राज्य की विधान सभा निलंबित कर दी जाती है और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ पूर्णतः या आंशिक रुप से राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं।

अनुच्छेद- 356 के तहत संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा की अधिकतम अवधि तीन वर्ष हो सकती है, जबकि अनुच्छेद- 352 के तहत लागू किया जाने वाला राष्ट्रीय आपातकाल को प्रत्येक छः माह के पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चल सकती है जब तक कि संसद स्वयं के संकल्प से समाप्त न कर दे।

3. **वित्तीय आपात काल-** अनुच्छेद- 360 में यह उपबंध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत में या उसके किसी राज्य क्षेत्र में वित्तीय साख को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकते हैं। वित्तीय आपात की उद्-घोषणा को भी राष्ट्रीय आपात के समान ही दो माह के अन्दर संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि दो माह के पूर्व संसद के दोनों सदन अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें तो, इसे अनिश्चित काल तक लागू किया जा सकता है, अन्यथा यह उद्-घोषणा दो माह की समाप्ति पर स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। यदि इसी दौरान लोक सभा का विघटन हुआ है तो राज्य सभा की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु नवीन लोक सभा के प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा घोषणा स्वतः ही निरस्त हो जाएगी।

   - **वित्तीय आपात की घोषणा का प्रभाव-** संघ और राज्यों के किसी भी वर्ग के अधिकारियों के वेतन में कमी की जा सकती है। इस समय राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन में भी कटौती के आदेश दे सकता है। राज्य के समस्त वित्त विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए पेश किये जाने के निर्देश दिये जा सकते हैं। संघीय सरकार, राज्य की सरकार को शासन सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दे सकती है। राष्ट्रपति द्वारा संघ और राज्यों के मध्य वित्तीय वितरण के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जा सकते हैं।

5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को प्रदान की गयी व्यापक शक्तियों के आधार पर यह धारणा बनी कि राष्ट्रपति कुछ शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद के परामर्श के बिना भी कर सकते हैं, जो संसदात्मक व्यवस्था के परम्पराओं के विपरीत है। इसलिए इसके निवारण के लिए 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा अनुच्छेद- 74 के स्थान पर इस प्रकार के उपबन्ध किया गया।

10:38

44

राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मंत्री-परिषद होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के संपादन में मंत्री-परिषद के परामर्श के आधार पर कार्य करेगा। इस उपबन्ध से राष्ट्रपति के पद की गरिमा को आघात पहुँचा। इसलिए 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा निम्न उपबन्ध किये गये-

राष्ट्रपति को मंत्री-परिषद से जो परामर्श प्राप्त होगा उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह मंत्री-परिषद को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहे, लेकिन पुनर्विचार के बाद मंत्री-परिषद जो परामर्श देगी, राष्ट्रपति उसी परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।

इस प्रकार राष्ट्रपति के सम्बन्ध में संवैधानिक स्थिति यह नियत करती है कि संसदीय शासन की भावना के अनुरुप राष्ट्रपति, राष्ट्र का संवैधानिक प्रधान है। किन्तु भारतीय राजनीति में उभरती हुई अनिश्चितता के दौर में राष्ट्रपति की भूमिका सक्रिय और अति महत्वपूर्ण होती जा रही है। राष्ट्रपति की इस सक्रियता और महत्ता का कारण, गठबन्धन की राजनीति और प्रधानमन्त्री पद की गरिमा में तेज गिरावट प्रमुख कारण है।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
2. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
3. राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस अनुच्छेद के अनुसार करता है?
4. 1975 में राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस आधार पर की गयी थी?
5. राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा होता है। सत्य/असत्य
6. राष्ट्रपति के निर्वाचन में केवल लोक सभा और राज्य सभा के सदस्य भाग लेते हैं। सत्य/असत्य
7. राष्ट्रपति पर महाभियोग अनुच्छेद- 63 के तहत लगाया जाता है। सत्य/असत्य
8. राष्ट्रपति को शपथ राज्यपाल दिलाते हैं। सत्य/असत्य
9. राष्ट्रपति, राज्यपाल की सिफारिश से अनुच्छेद- 356 के तहत राष्ट्रीय आपात की घोषणा करते हैं। सत्य/असत्य

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से यह स्पष्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ ही साथ व्यवस्थापिका का अंग भी है, क्योंकि संसद के द्वारा पारित कोई भी विधेयक तभी कानून बनता है जब राष्ट्रपति उसे अपनी स्वीकृति देते हैं। इस प्रकार संसदीय शासन की जो प्रमुख विशेषता है, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरुप, वह राष्ट्रपति के पद में स्पष्ट रुप से दिखाई देती है। भारत में संसदीय प्रणाली में राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, किन्तु ब्रिटेन के सम्राट के समान वह रबर मुहर नहीं है। राष्ट्रपति को कुछ विवेकी शक्तियाँ प्राप्त हैं और कुछ स्थितियों में भारत के राष्ट्रपति ने बड़ी ही समझदारी से कार्य किया है। जब किसी दल को लोक सभा में बहुमत नहीं मिलता है तो राष्ट्रपति स्वविवेक से उसे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करता है, जिसे वह समझे कि वह सदन में अपना बहुमत सिद्ध कर सकता है। इसके साथ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 1984 में इन्दिरा गाँधी की हत्या के उपरान्त प्रधानमन्त्री का पद रिक्त न हो, राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए राष्ट्रपति के द्वारा लौटाया जाना भी अपने आप में गम्भीर विषय माना जाता है। इस प्रकार जैसा उपर उल्लेख किया गया है, राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते व्यापक रुप से नियुक्तियाँ करने और पदच्युत करने का भी अधिकार है, साथ

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

सिंह ने राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए राष्ट्रपति के द्वारा लौटाया जाना भी अपने आप में गम्भीर विषय माना जाता है। इस प्रकार जैसा उपर उल्लेख किया गया है, राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते व्यापक रुप से नियुक्तियाँ करने और पदच्युत करने का भी अधिकार है, साथ

ही क्षमादान की महत्वपूर्ण शक्ति भी प्राप्त है। विधायन के क्षेत्र में जब संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार से यह पद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

5.7 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

औपचारिक प्रधान- जिसके नाम से समस्त कार्य किये जाते है, परन्तु वह स्वयं उन शक्तियों का प्रयोग न करता हो।

गणतन्त्र- राज्य का प्रधान निर्वाचित हों, वंशानुगत राजा नहीं।

कोटा- जीत के लिए आवश्यक न्यूनतम मत (समस्त का 51 प्रतिशत)

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1 **1.** लोक सभा, राज्य सभा और सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य, **2.** 5 वर्ष, **3.** अनुच्छेद 61

अभ्यास प्रश्न-2 **1.** अनुच्छेद 124, **2.** अनुच्छेद 217 **3.** अनुच्छेद 352, **4.** आन्तरिक अशान्ति, **5.** असत्य, **6.** असत्य, **7.** असत्य, **8.** असत्य, **9.** असत्य

5.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ0 रूपा मंगलानी- भारतीय शासन एवं राजनीति (2009), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
2. त्रिवेदी एवं राय- भारतीय सरकार एवं राजनीति।
3. महेन्द्र प्रताप सिंह- भारतीय शासन एवं राजनीति(2011), ओरियन्टल ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।
4. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी(2011), लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत का संविधान- ब्रज किशोर शर्मा (2008), प्रेन्टिस हाल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया(2010), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. The Constitution of India- J.C. Johari(2004) Sterling Publishers Private Limited, New Delhi

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान से अधिक है, स्पष्ट कीजिये।
2. राष्ट्रपति के चुनाव प्रक्रिया की विवेचना कीजिये।
3. राष्ट्रपति के आपातकालीन शक्तियों की समीक्षा कीजिये।

10:39

44

इकाई- 6 प्रधानमन्त्री और मंत्री-परिषद

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 प्रधानमन्त्री
    6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति
    6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्री-मण्डल के बीच सम्बन्ध
    6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध
    6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध
6.3 सारांश
6.4 शब्दावली
6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.8 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में अध्ययन किया है और पाया कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट से अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण स्थिति में है, क्योंकि एक तरफ वह राष्ट्र की एकता और गरिमा का प्रतीक है तो उसे कुछ स्वविवेकि शक्तियाँ प्रदान कर राजव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी है।

इस इकाई में हम देखेंगे कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है, उसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होता है। प्रधानमन्त्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमंत्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है, फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- जान सकेंगे कि संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री कितना महत्वपूर्ण है।
- सरकार के गठन में प्रधानमन्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमन्त्री निम्न सदन (लोक सभा) का नेता भी होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमन्त्री अपने दल का अत्यधिक प्रभावशाली होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

- मंत्री-परिषद के विघटन की भी प्रधानमन्त्री की महत्व पूर्ण शक्ति होती है, इस सम्बन्ध में जान सकेंगे।

6.2 प्रधानमन्त्री

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। इस शासन में प्रधानमन्त्री का पद, शासन व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु होता है। इसमें नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद पाया जाता है। नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति होता है और वास्तविक कार्यपालिका मंत्री-परिषद होती है, जिसका नेतृत्व प्रधानमन्त्री करता है। राष्ट्रपति के नाम से समस्त कार्यपालिका शक्तियों प्रयोग, प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मंत्री-परिषद करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 74(1) के अनुसार राष्ट्रपति को अपने कार्यों में सहायता तथा मन्त्रणा के लिए एक मंत्री-मण्डल होगा, जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। इसके आगे अनुच्छेद-75(1) में कहा गया है कि, प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री के परामर्श पर करेगा। संसदीय लोकतन्त्र की परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करने को बाध्य हो।

अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार के कोई भी व्यक्ति संसद का सदस्य हुए बिना छः माह तक मन्त्री पद पर रह सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रधानमन्त्री का नियुक्ति निम्न सदन (लोक सभा) से ही हो। उदाहरण स्वरुप- इन्दिरा गान्धी को जब पहली बार 1966 प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया तो उस समय वे उच्च सदन (राज्य सभा) की सदस्य थीं। ब्रिटेन की संसदीय परम्पराओं के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति ने कभी अपने विवेक का प्रयोग नहीं किया बल्कि बहुमत प्राप्त दल के नेता, किसी दल को बहुमत न मिलने की स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

संविधान के उपबन्धों और गत 64 वर्ष के व्यावहारिक अनुभवों से प्रधानमन्त्री के पद और स्थिति की जानकारी के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है -

6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति

इस बात का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं कि संसदीय परम्परा के अनुरुप राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को, प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। 1946 की अन्तरिम सरकार में जवाहर लाल नेहरु को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। 1952, 1957 और 1962 के लोक सभा के आम चुनाव में कांग्रेस को सफलता मिली और नेहरु जी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता रहा। 1964 में इनकी मृत्यु के उपरान्त कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य गुलजारी लाल नन्दा को अस्थायी रुप से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात कांग्रेस अध्यक्ष कामराज की कुशलता से लाल बहादुर शास्त्री को स्थायी प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया।

1966 में शास्त्री जी की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त एक बार पुनः नेता के चुनाव के प्रश्न पर मतभेद उभरा, क्योंकि काग्रेस अध्यक्ष कामराज इन्दिरा गाँधी को चाहते थे, जबकि कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य मोरारजी देसाई भी दावेदारी कर रहे थे। फलस्वरुप दल के चुनाव में श्रीमती गाँधी 169 के मुकाबले 355 मतों से विजयी रहीं। दल में इस विभाजन के कारण 1967 के चुनाव में कुछ राज्यों में भारी पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस, लोक सभा के 1962 के चुनाव में 361 स्थानों पर विजयी हुई थी, जबकि 1967 में यह संख्या घटकर 283 हो गयी। 1967 के चुनाव के उपरान्त इन्दिरा गाँधी सर्वसम्मति से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त की गयी। दूसरे गुट के सदस्य मोरारजी देसाई को उप-प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। फिर भी मोरारजी देसाई को असन्तोष था

और उन्होंने इन्दिरा गाँधी के प्रगतिशील आर्थिक नीतियों का, जैसे- बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। 1969 के राष्ट्रपति के चुनाव में तो यह विरोध और भी मुखर होकर सामने आ गया। कांग्रेस के अधिकृत उम्मीदवार नीलम संजीव रेड्डी के खिलाफ श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने निर्दलीय प्रत्याशी वी0वी0 गिरी को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करवाया, फलस्वरुप कांग्रेस का विभाजन हो गया। इन्दिरा गुट अल्पमत में आ गयी। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन कर दिया। 1971 के पूर्वार्द्ध में लोक सभा के प्रथम मध्यावधि चुनाव हुए। इन्दिरा गुट को भारी सफलता प्राप्त हुई और राष्ट्रपति ने इन्दिरा गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। इस सफलता ने श्रीमती गाँधी को एक शक्तिशाली नेता के रुप में राजनीतिक मंच पर स्थापित कर दिया।

इन्दिरा गाँधी की चुनावी सफलता और समाजवाद के चमत्कारिक नारे ने उनके प्रभाव में ऐसी बृद्धि की कि कांग्रेस के सर्वमान्य नेता के रुप में स्थापित हुई। 1977 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस की पराजय हुई और जनता पार्टी को सफलता मिली। मोरारजी देसाई को, राष्ट्रपति ने, प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

जनता पार्टी के सरकार बनाने के समय से ही उसके विभिन्न घटक दलों में मतभेद थे, जो 1977 तक बहुत बढ गये। इस स्थिति को देखते हुए जुलाई 1977 में विपक्ष अविश्वास प्रस्ताव ले आया और मोरारजी देसाई ने बिना सामना किये ही प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात सरकार बनाने की विभिन्न संभावनाओं पर विचार करते हुए, चौधरी चरण सिंह को तीन महीने में बहुमत सिद्ध करने की शर्त के साथ सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। परन्तु कांग्रेस पार्टी ने चरण सिंह से अपना समर्थन वापस ले लिया। यह समर्थन चरण सिंह द्वारा लोक सभा में बहुमत सिद्ध करने की तिथि के पहले ही ले लिया गया, परिणामस्वरुप चौधरी चरण सिंह ने लोक सभा का सामना किये बिना ही त्यागपत्र देते हुए राष्ट्रपति से लोक सभा विघटित करने की सिफारिश की। तत्कालीन राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन करते हुए, चौधरी चरण सिंह को कार्यवाहक प्रधानमन्त्री के रुप में रहने दिया।

1980 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस पार्टी को एक बार पुनः आश्चर्यजनक सफलता मिली और श्रीमती गाँधी एक बार पुनः प्रभावशाली प्रधानमन्त्री के रुप में स्थापित हुई। किन्तु श्रीमती गाँधी की दुर्भाग्यपूर्ण हत्या(31 अक्टूबर 1984) हो गयी। तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने कांग्रेस संसदीय बोर्ड की सिफारिश पर राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। चूँकि श्रीमती गाँधी की हत्या के कारण राजीव गाँधी के साथ जनता की बहुत सहानुभूति थी, इसलिए 1984 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस को अब तक सर्वाधिक सीटें प्राप्त हुई। इस सफलता के केन्द्र में राजीव गाँधी थे, इसलिए राजीव गाँधी का प्रधानमन्त्री बनना तय था। भारतीय राजव्यवस्था और प्रधानमन्त्री पद के लिए 1989 का लोक सभा चुनाव एक विभाजक चुनाव था। इस चुनाव ने एकदलीय प्रभुत्व का अन्त किया क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। जनता दल के वी0पी0 सिंह भाजपा सहित अन्य दलों के समर्थन से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किये गये, किन्तु नवम्बर 1990 में भाजपा के समर्थन वापस लेने की वजह से वी0पी0 सिंह सरकार का पतन हो गया। वी0पी0 सिंह सरकार के पतन के साथ ही जनता दल का विभाजन हो गया। चन्द्रशेखर सिंह ने कांग्रेस के समर्थन से प्रधानमन्त्री पद प्राप्त किया। कांग्रेस के समर्थन वापस लेने कारण चन्द्रशेखर सरकार का भी अल्पायु में ही, जून1991 में पतन हो गया। 1991 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस सबसे बड़े दल के रुप में उभरी। मई 1991 राजीव गाँधी की हत्या हो गयी। इस राजनीतिक वातावरण में पी0वी0 नरसिंहराव को राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

1996 के लोक सभा चुनाव में भी किसी दल को बहुमत नहीं मिला। तेरह दलों का सहयोग प्राप्त कर भाजपा के अटलबिहारी वाजपेयी को राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया, किन्तु इस सरकार का कार्यकाल मात्र तेरह दिन ही रहा। इसके पश्चात एच0डी0 देवगौड़ा और इन्द्र कुमार गुजराल की कांग्रेस समर्थित सरकारें बनीं जो, अल्पकालिक ही रहीं। 1998 के लोक सभा चुनाव में के पश्चात भाजपा और उसके सहयोगी दलों के नेता अटल विहारी वाजपेयी पुनः प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त हुए। किन्तु यह सरकार भी स्थायी नहीं रही और पुनः 1999 में लोक सभा के चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा सहित पन्द्रह दलों की गठबंधन सरकार का गठन किया गया। इस गठबंधन सरकार में मंत्री-मण्डल के सदस्यों का चयन प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर न होकर, घटक दलों की इच्छा और उनकी सौदेबाजी की स्थिति पर आधारित था।

इसी प्रकार 2004 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व में ग्यारह दलों के औपचारिक समर्थन और आठ दलों के बाहर से समर्थन से गठबंधन सरकार का गठन हुआ। इस सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया। 2009 के 15वीं लोक सभा चुनाव में पुनः कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार का गठन हुआ। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गठबंधन सरकार में मंत्री-परिषद के गठन में प्रधानमन्त्री पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं होते हैं, क्योंकि क्षेत्रीय दल, सरकार को समर्थन अपने हितों की सिद्धि के लिए करते हैं। ऐसे सौदेबाजी के वातावरण में प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत मजबूत एवं निर्णायक नहीं हो सकती।

6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्री-मण्डल के बीच सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(1) के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की मंत्रणा से करता है। भारत में भी इग्लैण्ड के समान संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय परम्परा का अनुसरण करते हुए भारत में भी मंत्री पद का चयन प्रधानमन्त्री करते हैं, राष्ट्रपति की स्वीकृति एक औपचारिकता होती है। प्रधानमन्त्री मंत्रियों के चयन में उस समय शक्तिशाली होता था और उसके निर्णय निर्णायक भी होते थे, जब एक दल बहुमत के आधार पर सरकार का गठन करता था। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में स्थिति काफी हद तक बदल गयी है, क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पा रहा है। सरकार के गठन और उसकी स्थिरता के लिए, विभिन्न क्षेत्रीय दलों के सहयोग की आवश्यकता होती है। ये क्षेत्रीय दल सहयोग के बदले में मंत्री पद प्राप्त करने की सौदेबाजी करते हैं। मंत्रियों को विभागों का बंटवारा भी प्रधानमन्त्री का विवेकाधिकार होता है, परन्तु मंत्री-परिषद का गठन करते समय उन्हें जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र तथा सहयोगी क्षेत्रीय दलों की निम्न सदन (लोक सभा) में सफल सदस्यों की सख्या को महत्व देना पड़ता है।

6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध

भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच का सम्बन्ध अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका होता हैं, जिनके नाम से सभी कार्य किये जाते हैं। जबकि मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यपालिका होती है। प्रधानमन्त्री , मंत्री-परिषद को नेतृत्व प्रदान करते हैं। मूल संविधान में यह उपबन्ध था कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं थे, किन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद की सिफारिस मानने के लिए बाध्य है। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा पुनः पूर्व स्थिति को बहाल कर दिया गया।

राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है, पहला- राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच का दलीय सम्बन्ध, यदि दोनों एक ही दल के हैं तो दलीय अनुशासन के कारण, सम्बन्ध सामान्य बने रहेंगे। जैसा कि1977 तक स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। दूसरा- राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक प्रभाव भी दोनों के बीच के सम्बन्ध को प्रभावित करते हैं। यदि राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमन्त्री की भूमिका है तो दोनों के बीच के सम्बन्ध काफी हद तक सामान्य रहे हैं। जैसा कि जाकिर हुसैन, वी0वी0 गिरि, फखरुद्दीन अली अहमद और ज्ञानी जैल सिंह के मामले में हुआ है। किन्तु 31अक्टूबर 1984 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या हो गयी। इसके पश्चात राजीव गाँधी को राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। 1986 तक तो सम्बन्ध अच्छे रहे, किन्तु 1987 के प्रारम्भ से दोनों के बीच के संबंधों में कड़वाहट शुरु हुई और ऐसा लगने लगा कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह, प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी को पद से हटाकर लोक सभा का विघटन कर देंगे। संविधान लागू होने के पश्चात ऐसा सर्वप्रथम हुआ कि एक ही दल का होने के बावजूद राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री में गम्भीर मतभेद उभर कर सामने आये।

6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। भारत में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल की जाती है। यद्यपि उच्च सदन से प्रधानमन्त्री की नियुक्ति को लेकर कोई कानूनी बन्धन नहीं हैं। हमारे देश में सर्वप्रथम 1966 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी को राज्य सभा के सदस्य के रुप में प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात प्रधानमन्त्री डॉ0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य रहे। प्रधानमन्त्री लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है, इसलिए सदन का भी नेता होता है। सदन का नेता होने के नाते विपक्ष के अधिकारों के रक्षा की और सदन की कार्यवाही में उनकी भागीदारी हेतु अवसर प्रदान करेंगे। इस हेतु वे विपक्ष से परामर्श करते हैं और उनकी शिकायतों का निराकरण करने का प्रयत्न भी करते हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार मंत्री-मण्डल सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मंत्री-मण्डल का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि उसे लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। किन्तु व्यावहारिक स्थिति कुछ और ही है, क्योंकि दलीय अनुशासन के कारण, लोक सभा में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल, मंत्री-मण्डल के विरुद्ध नहीं जा पाता है। संसदीय परम्परा के अनुसार प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति से सिफारिश करके लोक सभा का विघटन करवा सकता है। इस अधिकार के कारण प्रधानमन्त्री लोक सभा को नियंत्रित करने में काफी हद तक सफल रहता है। प्रथम लोक सभा के गठन से आज तक 59 वर्षों में कई बार लोक सभा का विघटन समय से पूर्व करते हुए मध्यावधि चुनाव कराये गये।

किस प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने विघटन किया-

श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1970
श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1977
चौधरी चरण सिंह	1979
राजीव गाँधी	1984
चन्द्रशेखर सिंह	1991
अटल बिहारी वाजपेयी	1998
अटल बिहारी वाजपेयी	1999

10:39
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब किसी एक दल को निरपेक्ष बहुमत रहा है तो लोक सभा पर प्रधानमन्त्री का नियंत्रण बहुत ही प्रभावशाली रहा है। परन्तु जब गठबंधन सरकारें रहीं हैं। जैसे- 1977, 1989, 1991, 1996, 1998, 1999, 2004 और 2009 में, तब लोक सभा पर नियन्त्रण की बात तो दूर की रही, वे स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए दिखाई देते रहे थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की जाती है या निर्वाचित होता है?
2. निम्न सदन का नेता कौन होता है?
3. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है?
4. भारत की प्रथम प्रधानमन्त्री जो राज्य सभा सदस्य थीं?
5. कोई मंत्री बिना संसद सदस्य रहे कितने माह मंत्री रह सकता है?

6.3 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति हेतु अपनायी जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई। साथ ही यह भी देखा की किस प्रकार से प्रधानमन्त्री इस शासन व्यवस्था में बहुत ही शक्तिशाली होकर उभरता है। यहाँ यह भी देखने को मिला कि प्रधानमन्त्री मंत्री-परिषद और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है और समय-समय पर मंत्री-परिषद द्वारा लिए गये निर्णयों की जानकारी भी राष्ट्रपति को देता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार से इस शासन व्यस्था में सम्पूर्ण शासन व्यस्था के केन्द्र में प्रधानमन्त्री होता है।

6.4 शब्दावली

मंत्री-परिषद- मंत्री-मण्डल, राज्यमंत्री, उप-मंत्री, निम्न सदन- लोक सभा, उच्च सदन- राज्य सभा

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नियुक्ति, **2.** प्रधानमन्त्री, **3.** राष्ट्रपति, **4.** श्रीमती इन्दिरा गाँधी , **5.** छः माह

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान - ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फाड़िया।

6.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत के प्रधानमन्त्री की पद एवं स्थिति की विवेचना कीजिये।
2. प्रधानमन्त्री की सदन के नेता और सरकार के मुखिया के रूप में महत्व की व्याख्या कीजिये।
3. गठबन्धन सरकारों के युग में प्रधानमन्त्री कमजोर हुआ है या मजबूत, समीक्षा कीजिये।

10:39 68
44

इकाई- 8 केन्द्रीय सचिवालय, मंत्री-मण्डल सचिवालय, प्रधानमन्त्री सचिवालय

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 केन्द्रीय सचिवालय
    8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा
    8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन
    8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य
    8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना
    8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव
8.3 अवधि प्रणाली
    8.3.1 अवधि प्रणाली के पक्ष में तर्क
    8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क
8.4 मंत्री-मण्डल (कैबिनेट) सचिवालय
    8.4.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्य
    8.4.2 मंत्री-मण्डल सचिव
        8.4.2.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय एवं मंत्री-मण्डल सचिव की स्थिति पर प्रतिकुल प्रभाव डालने वाले कारण
        8.4.2.2 मंत्री-मण्डल सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता विकास के लिए सुझाव
8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय
    8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों का गठन किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नीतियों का निर्माण किया जाता है।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

मंत्री-मण्डल सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्री-मण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्री-मण्डल सचिवालय देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है।

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यों में कार्यालयीन सहायता करने के लिए 15 अगस्त 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- मन्त्री-मण्डलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।

8.2 केन्द्रीय सचिवालय

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों में विभाजित किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नितियों का निर्माण किया जाता है। नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए संलग्न, अधीनस्थ तथा क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं। इस प्रकार सचिवालय एक अवधारणा है, जिसका अभिप्राय केन्द्र सरकार के स्तर पर गठित मंत्रालयों एवं विभागों के समुच्चय से है, जिनका राजनीतिक अध्यक्ष मंत्री होता है एवं प्रशासनिक अध्यक्ष सचिव होता है।

8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा

केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा दो विचारधाराओं पर आधारित है-

1. **राजनीतिक-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा-** जिसके अन्तर्गत नीति-निर्माण को नीति क्रियान्वयन से पृथक किया गया है। इसके अन्तर्गत सचिवालय की भूमिका को नीति निर्धारण से जोड़ा गया है एवं क्रियान्वयन हेतु क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है।
2. **अवधि प्रणाली की विचारधारा-** केन्द्रीय सचिवालय केन्द्र सरकार के मुख्यालय की हैसियत से नीति-निर्माण के लिए उत्तरदायी है, परन्तु नीति के क्रियान्वयन के लिए केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है। केन्द्र सरकार के स्तर पर क्षेत्रीय संस्थान मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं-
    - **संबंधित कार्यालय या संलग्न कार्यालय-** इसके दो मौलिक कार्य हैं। पहला, नीति-निर्माण की प्रक्रिया में तकनीकी परामर्श प्रस्तुत करना एवं दूसरा, नीति के क्रियान्वयन का परिवीक्षण करना।
    - **अधीनस्थ कार्यालय-** यह केन्द्र सरकार की नीति के वास्तविक एवं क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी माना गया है।

10:40 68
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

इन दोनों के अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्थान निम्नांकित प्रकार के भी हो सकते हैं, जैसे- विभागीय उपक्रम, लोक निगम, सरकारी कम्पनी आदि। ये तीनों मौलिक स्वरूप हैं, जिनके माध्यम से सरकार वाणिज्यिक एवं व्यावसायिक कार्यों का संचालन करती है।

8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन

केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग हैं, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। इसके संगठन को निम्नांकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

पदाधिकारी	स्तर
मंत्री	मंत्रालय का राजनीतिक अध्यक्ष
सचिव	मंत्रालय का प्रशासनिक अध्यक्ष
विशेष या अतिरिक्त सचिव	---------------------
अधिकारी वर्ग संयुक्त सचिव	उपविभाग का अध्यक्ष
उपसचिव/निदेशक	प्रभाग का अध्यक्ष
अवर सचिव	शाखा
अनुभाग अधिकारी	अनुभाग
सहायक	अनुभाग अधिकारी का सहायक
कार्यालय	ग्रुप- 'ब' कर्मचारी,

इस प्रकार निदेशक तथा उपसचिव के पदों को समान स्तर का मानते हुए केन्द्रीय सचिवालय के ढाँचे को सचिव से लेकर निम्न श्रेणी तक 09 ग्रेडों में रखा गया है। सचिवालय में अधिकारियों की ये श्रेणियाँ 'अधिकाधिक सिद्धान्त' पर आधारित हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रेणी के अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह जितना अधिक कार्य कर सके, उतना करे और केवल महत्वपूर्ण मामले ही उच्च स्तर पर पहुँचे।

अधिकारी वर्ग प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों की भर्ती केन्द्रीय सरकार के द्वारा विभिन्न राज्यों की भारतीय प्रशासनिक सेवा श्रेणियों में से कार्यकाल पद्धति के अन्तर्गत की जाती है। यह पद्धति 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। इस वर्ग में भर्ती के दूसरे स्रोत, केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारियों को मंत्रालयों एवं विभागों से इसलिए सम्बद्ध किया जाता है, ताकि सचिवालय के कार्यों में निरन्तरता बनी रहे। सन् 1957 से केन्द्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु केन्द्रीय स्टाफिंग योजना प्रारम्भ की गयी है।

8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य

सरकारी हैण्डबुक के अनुसार सचिवालय के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं-

1. नीति का निर्धारण तथा समय-समय पर आवश्यकतानुसार नीति के संशोधन में मंत्री की सहायता करना।
2. नियम, विधान तथा विनिमय बनाना।
3. क्षेत्रीय कार्यक्रम और योजना तैयार करना।
4. मंत्रालय या विभाग के कार्यों के सन्दर्भ में बजट तैयार करना और व्यय पर नियन्त्रण करना।
5. प्रारम्भ होने वाले कार्यक्रमों और योजनाओं की वित्तीय तथा प्रशासनिक अनुमति देना और उनमें आवश्यक संशोधन करना।

10:40
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

6. कार्यपालिका विभागों एवं अर्द्ध स्वायत्त क्षेत्रीय अभिकरणों द्वारा निर्मित नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करना।
7. नीतियों की व्याख्या करना एवं उनमें समन्वय लाना।
8. मंत्रालय या विभाग में कार्यरत कर्मचारियों एवं संगठन की क्षमता बढ़ाने के लिए कदम उठाना।
9. मंत्री को उसके संसदीय उत्तरदायित्व को पूरा करने में सहायता देना।

इस प्रकार सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति-निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय ही है।

8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना

भारत में सचिवालय प्रशासन की रीढ़ है। फिर भी सचिवालय की कार्यप्रणाली की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. अनावश्यक रूप से बढ़ता हुआ आकार।
2. सचिवालय के कर्मियों की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि कि वह एक भीड़ भरा संगठन बन गया है।
3. अत्यन्त खर्चिला।
4. विलम्बकारी प्रकिया।
5. विलम्ब की समस्या से प्रजातंत्र के स्वरुप में भ्रष्टाचार का उदय।
6. सचिवालय यद्यपि नीति-निर्माण करने वाली संस्था है, तथापि आज-कल यह कार्यकारी विभागों के कार्यों का संचालन अधिकाधिक मात्रा में करने लगा है। परिणामस्वरूप एक ओर तो सचिवालय अपना ध्यान नीति-निर्माण के कार्य पर क्रेन्द्रित नहीं कर पाता और दूसरी ओर कार्यकारी इकाईयों की शक्ति में ह्रास होता जा रहा है।
7. वर्तमान समय में सचिवालय अपना क्षेत्राधिकार बढ़ाने की मनोवृत्ति से पीड़ित।
8. सचिवालय के कार्यकारी अपने आपको इकाईयों के कार्मिकों से अधिक योग्य मानने की प्रवृति से पीड़ित दिखाई देते हैं।

8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव

भारत सरकार सचिवालय के दोषों को दूर करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रही है। प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझावों पर आवश्यकतानुसार अमल किया गया है, जैसे-

1. निर्णय प्रक्रिया में पदसोपानों की संख्या में कमी करने की दिशा में कदम उठाए गये हैं।
2. निम्न स्तर पर प्रशासनिक कुशलता लाने के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है।
3. सचिवालय में अनावश्यक नियुक्तियों को तथा अनावश्यक व्ययों को हतोत्साहित किया जा रहा है।
4. कर्मचारियों की पदोन्नति के नये नियम लागू हो रहे हैं और यह समझा जाने लगा है कि वरिष्ठ पदों को भरने के लिए आयु को अनावश्यक महत्व न दिया जाए।
5. यह भी सुझाव दिया गया है कि एक मंत्रालय के साथ संलग्न सचिव को दो वर्ष के स्थान पर लगातार पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।

इस के अतिरिक्त सचिवालय की कार्य-पद्धति को सरल एवं गतिमान बनाया गया है और लालफीताशाही को समाप्त करने पर जोर दिया जा रहा है। सचिवालय सुधार के लिए कुछ सुझाव निम्नांकित है-

- सचिवालय की कार्य प्रणली को अधिक गति दने के लिए यह आवश्यक है कि सचिवालय केवल नीति-निर्माण का ही कार्य करे।
- सचिवालय के कार्यों में कुशलता लाने के लिए विभागाध्यक्ष, सचिव तथा मंत्री तीनों के मध्य की दूरीयाँ कम की जाए।
- प्रशासनिक विभागों की अध्यक्षता हेतु विशेषज्ञ अधिकारियों को प्राथमिकता दी जाए।

8.3 अवधि प्रणाली

'अवधि प्रणाली' का प्रारम्भ लार्ड कर्जन के द्वारा 1905 में की गया। इसके अर्न्तगत क्षेत्रीय संस्थान के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों को एक निर्धारित अवधि के लिए मुख्यालय के स्तर पर पद स्थापित किया जाता था। आजादी के उपरान्त 'अवधि प्रणाली' से राज्य सरकार के स्तर पर कार्य कर रहे अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों को एक निश्चित समय तक कन्द्रीय सचिवालय में पद स्थापित किया जाता है। अपने इस कार्यकाल को पूरा करने के उपरान्त उन्हें पुनः संबधित राज्य सरकार की सेवा में वापिस भेज दिया जाता है।

8.3.1 अवधि प्रणाली के पक्ष में तर्क

- अवधि प्रणाली से केन्द्र एवं राज्य के बीच अधिक प्रभावी प्रशासनिक समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।
- अवधि प्रणाली केन्द्र एवं राज्य सरकार दोनों के लिए लाभकारी है। केन्द्र सरकार अधिक वास्तविक तरीके से स्थानीय अनुभव के आधार पर नीति का निर्माण कर सकती है, क्योंकि राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों के पास जिला प्रशासन का वास्तविक अनुभव होता है। राज्य सरकार इन अधिकारियों के माध्यम से अपनी प्रशासनिक गतिविधियों में व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्राप्त कर सकती है।
- भारतीय प्रशासन में समरूपता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से अवधि प्रणाली का विशेष योगदान है।
- अवधि प्रणाली देश की एकता एवं अखण्डता बनाये रखने में सहयोगी है।
- अवधि प्रणाली की विचारधारा भारतीय संघवाद की विचारधारा से मेल रखती है।
- अवधि प्रणाली अधिकारियों के बीच समानता के अवसर उपलब्ध कराती है।
- राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारी अधिक राजनीतिक निष्पक्षता के साथ अपने कार्यों का संचालन कर सकते हैं। अर्थात् लोक सेवा के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष कार्यों के सन्दर्भ में अवधि प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण है।
- अवधि प्रणाली के माध्यम से केन्द्र सरकार अपनी नीतियों पर जनता की सामान्य प्रतिक्रिया को प्राप्त कर सकती है।

8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क

- जब राज्य प्रशासन के अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत किसी पद को ग्रहण करते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में संबंधित मंत्रालय की कार्य-पद्धति से परिचत न होने के कारण उस अधिकारी की निर्भरता

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

कार्यालय पर बनी रहती है। अतः जिस अवधि प्रणाली के माध्यम से अधिकारियों की कार्यकुशलता को अधिक करने का प्रयास किया गया है, उससे वैसा हो पाना सम्भव नहीं हो रहा है।

- केन्द्र सरकार के स्तर पर कुछ एसी गतिविधियाँ संचालित की जाती हैं, जिनमें जिला प्रशासन का स्थानीय अनुभव अनिर्वाय नहीं है। अतः ऐसे क्षेत्रों में अवधि प्रणाली की उपयोगिता काफी सीमित हो जाती है।
- कई परिस्थितियों में ऐसा भी देखने को मिलता है कि राज्य प्रशासन के अधिकारी जब अवधि प्रणाली के अर्न्तगत केन्द्र सरकार के स्तर पर सेवा प्रदान करने जाते हैं, तो इसके उपरान्त पुनः राज्य प्रशासन की सेवा में वापस जाने में दिलचस्पी नहीं रखते। अतः अवधि प्रणाली के माध्यम से जो लाभ राज्य प्रशासन को होना चाहिए, वह सम्भव नहीं हो पाता।
- केन्द्रीय सचिवालय सेवा को स्थापित करने के उपरान्त अनुभाग अधिकारी पदोन्नति के माध्यम से उच्चतर अधिकारी वर्ग में शामिल किये जाते हैं। ऐसा होने के कारण अवधि प्रणाली के अन्तर्गत राज्य प्रशासन के अधिकारियों को सीमित अवसर प्राप्त होते हैं।
- अवधि प्रणाली के अर्न्तगत केन्द्रीय सचिवालय के स्तर पर आने वाले अधिकारियों की संख्या में अनिश्चितता बनी रहती है।
- सचिवालय सेवा के अधिकारियों के पदोन्नति के अवसर कम होते हैं। मनोबल प्रभावित होता है और समन्वय की समस्या होती है।

8.4 मंत्री-मण्डल(कैबिनेट) सचिवालय

मंत्री-मण्डल सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्री-मण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्री-मण्डल सचिवालय को देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है। भारतीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मंत्री-मण्डल प्रमुख नीति निर्माण कर्ता अभिकरण है। अतः मंत्री-मण्डल सचिवालय के द्वारा सरकार की नीतियों का अंतिम निर्धारण किया जाता है।

मंत्री-मण्डल प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में अपने कार्यों को सम्पन्न करता है। प्रधानमन्त्री मंत्री-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में मंत्री-मण्डल सचिवालय से परामर्श एवं सहयोग प्राप्त करता है, जिसकी अध्यक्षता मंत्री-मण्डल सचिव के द्वारा की जाती है। मंत्री-मण्डल सचिव पूरे देश का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी है। विभिन्न मंत्रालयों के बीच समन्वय को प्राप्त करने के लिए मंत्री-मण्डल सचिवालय को उत्तरदायी माना गया है।

जब प्रधानमन्त्री सरकार के अध्यक्ष के रूप में अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं, तो दैनिक प्रशासनिक सहयोग प्रधानमन्त्री कार्यालय के द्वारा प्रदान किया जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्री-मण्डल सचिवालय एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय के बीच आजादी के उपरान्त ही समय-समय पर विवादास्पद मुद्दे उठते रहे हैं। संसदीय प्रणाली की विचारधारा के अनुसार भारतीय शासन में मंत्री-मण्डल सचिवालय की भूमिका निर्णायक होनी चाहिए। परन्तु प्रधानमन्त्री के बदलते हुए व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मंत्री-मण्डल सचिवालय की निर्णायक भूमिका प्रधानमन्त्री कार्यालय में देखने को मिलती है।

मंत्री-मण्डल सचिवालय सीधे प्रधानमन्त्री के अधीन कार्य करता है। इसका सचिव, कैबिनेट सचिव होता है जो कि प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं।

8.4.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्य

कैबिनेट या मंत्री-मण्डल सचिवालय केन्द्रीय प्रशासन का केन्द्र-बिन्दु है। भारत में कैबिनेट की कार्यकुशलता तथा प्रशासन की सुव्यवस्था बहुत हद तक मंत्री-मण्डल सचिवालय की क्षमता पर निर्भर करती है। मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्यों का विवरण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जा सकता है-

1. **मत्री-मण्डल सचिवालय के रूप में-** केन्द्रीय मंत्री-मण्डल तथा उसकी समितियों को दैनिक कार्य से संबंधित सचिवालय सहायता प्रदान कराना। कैबिनेट की बैठकों की कार्यसूची तैयार करना, वाद-विवाद तथा निर्णयों का अभिलेख रखना। केन्द्रीय मंत्री-मण्डल, उसकी समितियों, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति को विभिन्न सरकारी संस्थाओं से संबंधित आवश्यक सूचनाएें उपलब्ध कराना। मंत्री-मण्डल की बैठकों के निर्णयों की सूचना संबंधित विभागों को पहुँचाना।
2. **प्रारम्भकर्ता के रूप में-** इस रूप में कैबिनेट सचिवालय तीन प्रकार के प्रारम्भिक कार्य करता है। पहला- मंत्री-परिषद के मंत्रियों की नियुक्तियाँ, उनके बीच विभागों के वितरण, शपथ ग्रहण, त्याग-पत्र आदि से संबंधित समस्त कार्य। दूसरा- ऐसे कानूनों का निर्माण करना जो सरकार के कार्यों को सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में सहायता करते हों। तीसरा- सरकार की नीतियों को लागू करने तथा उनमें समन्वय लाने से सम्बन्धित विभागों की देखरेख रखना।
3. **समन्वयकर्ता विभाग के रूप में-** केन्द्रीय प्रशासनिक स्तर पर कैबिनेट सचिवालय एक प्रमुख समन्वय संस्था है। इस रूप में यह निम्नांकित कार्य करता है- भारत सरकार में कार्यरत विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों आदि के बीच समन्वय स्थापित करना। सरकार की प्रमुख नीतियों और गतिविधियों में समन्वय। केन्द्र सरकार एवं विभिन्न राज्य सरकारों के बीच समन्वय। कैबिनेट सचिव विभिन्न समितियों का अध्यक्ष होने के नाते विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
4. **मंत्री-मण्डल के निर्णयों को क्रियान्वित करने के रूप में-** प्रधानमन्त्री तथा मंत्रियों को समय-समय पर महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित नीतियों के निरूपण एवं निष्पादन के विषय में परामर्श देना। मंत्री-मण्डल के समक्ष प्रस्तुत सभी विषयों के सम्बन्ध में मंत्री-मण्डल की सहायता और कार्यवाही करना। जैसे- संसद में व्यवस्थापन के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव तैयार करना, सार्वजनिक जाँच समितियों की नियुक्ति, संसद के अधिवेशन प्रारम्भ करने और समाप्त करने आदि पर विचार, विदेशों के साथ सन्धियां एवं समझौते इत्यादि।

   कैबिनेट सचिवालय का एक महत्वपूर्ण कार्य यह देखना भी है कि मंत्री-मण्डल या उसकी समितियों द्वारा लिये गये निर्णय लागू हो रहे हैं या नहीं। इस कार्य हेतु यह सचिवालय मासिक प्रतिवेदन तैयार करता है।

इस प्रकार प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री-मण्डल सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है। फिर भी मंत्री-मण्डल सचिवालय, मंत्री-मण्डल के सचिवालय सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ, भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

8.4.2 मंत्री-मण्डल का सचिव

मंत्री-मण्डल सचिवालय का प्रमुख कैबिनेट सचिव होता है, जो प्रधानमन्त्री के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहता है। कैबिनेट सचिव द्वारा मंत्री-मण्डल सचिवालय की एवं सचिवों के सम्मलेन की अध्यक्षता की जाती है। कैबिनेट

10:40
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठतम सदस्य होता है। इसे भारतीय प्रशासन का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न एवं प्रतिष्ठित पद माना जाता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार, योग्यतम एवं वरिष्ठतम अधिकारियों को ही कैबिनेट सचिव बनाया जाता है। इस पद को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि इसकी अवधि 03 या 04 वर्ष की हो। कैबिनेट सचिव को अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के वेतन का अधिकतम वेतनमान दिया जाये। आयोग के अनुसार महत्वपूर्ण नीति निर्धारक विषयों में उसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह प्रधानमन्त्री, मंत्री-मण्डल तथा मंत्री-मण्डलीय समितियों का प्रमुख सलाहकार होता है।

देशमुख टीम के अनुसार इस पद को अन्य सचिवों की तुलना में अधिक वेतनमान दिया जाए। यह टीम इस पद के क्रियान्वयन के तरीके से संतुष्ट नहीं थी और उसने इस पद की गरिमा एवं भूमिका में सुधार के लिए अनेक सिफारिशें की। जैसे-

1. दो या अधिक मंत्रालयों के बीच मतभेद की स्थिति में उन मामलों को कैबिनेट सचिव के पास भेजा जाना चाहिए।
2. कौन सा मामला किस मंत्रालय से संबंधित है, इसका निराकरण कैबिनेट सचिव पर छोड़ देना चाहिए। साथ ही कैबिनेट सचिव को समय-समय पर अन्य सचिवों से सम्पर्क स्थापित करते रहना चाहिए।

8.4.2.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय एवं मंत्री-मण्डल सचिव की स्थिति पर प्रतिकुल प्रभाव डालने वाले कारण

1. मंत्री-मण्डलीय सचिव को प्रधानमन्त्री का अपेक्षित संरक्षण न मिलना।
2. मंत्रियों और सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों में पारस्परिक हितों के लिए गठजोड़, जिसका प्रभाव मंत्री- मण्डलीय सचिव के समन्वय सम्बन्धी कार्यों पर पड़ता है।
3. कार्मिक प्रशासन मंत्रालय का प्रधानमन्त्री के नियंत्रण में रखा जाना और कई महत्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में इस मंत्रालय का हस्तक्षेप में मंत्री-मण्डल सचिव की उपेक्षा।
4. प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के पश्चात कई बार प्रधानमन्त्री की मंत्री-मण्डलीय सचिवालय के बजाय प्रधानमन्त्री कार्यालय पर अधिक निर्भरता।
5. कई अवसरों पर मंत्री-मण्डलीय सचिवों की नियुक्ति, सेवा विस्तार कार्य आदि के सम्बन्ध में राजनीतिक हस्तक्षेप।

8.4.2.2 मंत्री-मण्डल सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए सुझाव

मंत्री-मण्डल सचिवालय एक प्रभावकारी समन्वयकर्ता निकाय है। किन्तु यह प्रभावशाली समन्वय में उतना सक्षम नहीं हो पाता है। इसके पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं-

1. प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार सांख्यिकी विभाग को वित्तीय विभाग में मिला देना चहिए तथा सैन्य शाखा को रक्षा मंत्रालय को सौंप देना चाहिए। ऐसा करने से इस सचिवालय के पास अधिकांशतः मंत्री-मण्डल मामलों से सम्बंधित विभाग ही बचे रहेंगे।
2. कैबिनेट सचिव के पद का कार्यकाल तीन या चार साल किया जाना चाहिए।
3. मंत्री-मण्डल सचिव की नियुक्ति के पहले विभिन्न पदों पर प्राप्त प्रशासनिक अनुभव, जैसे किसी राज्य में मुख्य सचिव की भूमिका आदि पर ध्यान देना चाहिए।

4. मंत्री-मण्डल सचिव की नियुक्ति के लिए वरिष्ठता के साथ-साथ योग्यता, प्रभावशीलता, कर्त्तव्य-निष्ठा इत्यादि को ध्यान में रखा जाना चाहिए।
5. मंत्री-मण्डल सचिव की नियुक्ति, सेवा-विस्तार आदि के सन्दर्भ में राजनैतिक कारकों को कम से कम किया जाना चाहिए।
6. प्रधानमन्त्री कार्यालय और मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्य-क्षेत्र को और अधिक स्पष्ट किया जाना चाहिए।
7. मंत्री-मण्डलीय सचिवालय एवं सचिव को प्रधानमन्त्री का उपयुक्त संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यों में कार्यालयीय सहायता करने के लिए 15 अगस्त, 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था। ज्ञातव्य है कि प्रधानमन्त्री ने इसी तिथि से वह सभी कार्य अपने हाथों में लिए, जो इसके पहले गवर्नर जनरल, सरकार की कार्यपालिका के प्रमुख के रूप में किया करता था।

आजादी के उपरान्त पंडित नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। नेहरू संसदीय प्रजातान्त्रिक विचारधारा का आदर करते थे एवं मंत्री-मण्डल के सामूहिक निर्णय पर विश्वास करते थे। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय का सम्बन्ध सीमित दैनिक प्रशासनिक कार्यों से था, जो कि प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में चाहिए था। अतः इस समय महत्व की दृष्टि से प्रधानमन्त्री कार्यालय, कैबिनेट सचिवालय के बाद आता था और प्रधानमन्त्री कार्यालय को निर्णयकारी भूमिका प्राप्त नहीं थी।

जब लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने, तब उनके पास प्रशासनिक दक्षता नहीं थी। अतः शास्त्री जी ने कार्यालय की भूमिका को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस समय प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका देश के उच्चतर नीति निर्णयक अभिकरण के रूप में स्थापित हुई और शास्त्री जी के कार्यालय में एलके झा जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले प्रशासनिक अधिकारी को प्रधानमन्त्री कार्यालय का सचिव नियुक्त किया। झा काफी प्रभावशाली हो गये और उन्हें 'सुपर सचिव' की संज्ञा दी जाने लगी। शास्त्री जी के समय यह अत्यन्त शक्तिशाली होकर उभरा और प्रधानमन्त्री कार्यालय का नामकरण प्रधानमन्त्री सचिवालय कर दिया गया।

इन्दिरा गाँधी द्वारा प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करते समय उनके पास भी प्रशासनिक अनुभव तथा ज्ञान नहीं था, अतः स्वाभाविक रूप से उनकी निर्भरता प्रधानमन्त्री सचिवालय पर अधिक थी। देश की आर्थिक नीति एवं विदेश नीति जैसी जटिल विषय वस्तु पर इन्दिरा गाँधी काफी हद तक प्रधानमन्त्री सचिवालय पर निर्भर करती थी। ऐसी दशा में इन्दिरा गाँधी के प्रधानमंत्री काल में शास्त्री जी द्वारा शुरू की गयी परम्परा को और अधिक प्रोत्साहन मिला और इस समय प्रधानमन्त्री सचिवालय के आकार एवं भूमिका दोनों में वृद्धि हुई, विशेष कर राष्ट्रीय आपातकाल के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय एक वास्तविक प्रशासनिक सत्ता के एक अतिरिक्त संवैधानिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। प्रधानमन्त्री सचिवालय एक निर्णायक अभिकरण के रूप में स्थापित हुआ एवं मंत्री-मण्डल सचिवालय एक ऐसा अभिकरण बन गया, जिसका कार्य प्रधानमन्त्री सचिवालय के निर्णयों को लागू करना था।

10:40

44

'जनता सरकार' के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय का नामकरण पुनः प्रधानमन्त्री कार्यालय के रूप में किया गया। इसकी भूमिका सत्ता एवं आकार दोनों की दृष्टि से सीमित करते हुए मंत्री-मण्डल सचिवालय को एक उचित नीति निर्णायक अभिकरण माना गया तथा प्रधानमन्त्री कार्यालय की राष्ट्रीय मामलों में नीति निर्धारण की कोई भूमिका नहीं रही। यहाँ तक 'रॉ' संगठन को भी इससे हटा दिया गया। कैबिनेट सचिवालय का कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग जो लोक सेवाओं पर नियंत्रण रखता है, पहले के समान गृह मंत्रालय को और राजस्व जाँच विभाग, वित्त मंत्रालय को लौटा दिया गया।

1980 में इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री बनी और उनके द्वारा जनता सरकार के समय किये गये अनेक कार्यों में परिर्वतन किये गये। साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका में बढ़ोत्तरी भी हुई, लेकिन प्रधानमन्त्री कार्यालय वह स्थान प्राप्त न कर सका जो उसे पहले प्राप्त था।

1984 में राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्री बनने के उपरान्त प्रधानमन्त्री कार्यालय के प्रमुख प्रशासनिक विषय वस्तुओं पर परामर्शदाताओं की नियुक्ति की गयी, जिससे भारतीय प्रशासनिक तंत्र में प्रधानमन्त्री कार्यालय का प्रभाव अधिक हुआ। राजीव गाँधी के पास भी प्रशासनिक दक्षता की कमी होने के कारण प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता बनी रही। अतः इस समय मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टियों से विस्तार हुआ और वह अपनी खोई शक्ति एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में सफल हुआ।

नरसिम्हा राव के प्रधानमंत्रित्व काल में विशेषकर अंतिम वर्षों में प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका पुनः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। नरसिम्हा राव के द्वारा एक अल्पमत सरकार का नेतृत्व किया गया। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता का अत्यधिक होना स्वाभाविक था।

इण्डिया टुडे के अनुसार वाजपेयी जी के नेतृत्व में प्रधानमन्त्री कार्यालय केवल सजावटी चीज बन कर रह गया है। वैसे सर्वशक्तिमान प्रधानमन्त्री कार्यालय को निष्प्रभाव करने का फैसला खुद वाजपेयी ने किया था। वाजपेयी के मित्रों का मानना है कि प्रधानमन्त्री ने निगरानी और सुधार-तंत्र को प्रभावी तरीके से विकसित किए बगैर अपने मंत्रियों को आजादी देकर गलती की। इससे जहाँ नियमों की चकाचौंध और उनका असर खत्म हो गया, वहीं वाजपेयी जी की निजी छवि को चोट पहुँची। इसकी वजह आर्थिक मामले हैं, जहाँ वाजपेयी जी कमजोर पड़ जाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे प्रधानमन्त्री की सरकार पर पकड़ मजबूत होने के साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की एवं प्रधानमन्त्री के प्रधान सचिव ब्रजेश मिश्र की भूमिका क्रमशः बढ़ती जा रही है। वर्तमान समय में रक्षा, विदेश के अतिरिक्त अन्य कई मामलों में प्रधानमन्त्री का हस्तक्षेप देखा जा सकता है एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय तथा प्रधान सचिव गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भूमिका निभाते नजर आ रहे हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वाजपेयी का जी प्रधानमन्त्री कार्यालय विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था।

वर्तमान समय में संयुक्त सरकार की विचारधारा के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री एक राजनैतिक असुरक्षा की भावना में कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता आंकना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त संयुक्त सरकार में कई अन्य राजनैतिक दलों के सदस्यों को मिलाकर मंत्री-परिषद का निर्माण किया जाता है। अतः प्रधानमन्त्री विश्वसनीय परामर्शों के लिए प्रधानमन्त्री कार्यालय पर ज्यादा निर्भर होते हैं। लेकिन संयुक्त सरकार में प्रधानमन्त्री सन्तुलन एवं अवरोध के नियम के अन्तर्गत अपने कार्यों का संचालन करते हैं। ऐसी अवस्था में प्रधानमन्त्री की तुलना में मंत्री-मण्डल का विशेष महत्व होता है। अतः मंत्री-मण्डल सचिवालय की भूमिका का विशेष महत्व होना स्वभाविक है।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

व्यवस्था की देखरेख करने तथा प्रधानमन्त्री के विदेश यात्रा के कार्यक्रम बनाने का भी कार्य करने लगा है।

इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़, सूखा आदि के समय या अन्य अवसरों पर प्रधानमन्त्री कोष से राज्यों या व्यक्तियों को जो आर्थिक सहायता पहुँचायी जाती है, उसका लेखा-जोखा भी प्रधानमन्त्री कार्यालय रखता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। सत्य/असत्य
2. भारतीय प्रशासनिक सेवा में अवधि प्रणाली 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। सत्य/असत्य
3. राजीव गाँधी 1984 में प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये थे। सत्य/असत्य

8.6 सारांश

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय भी है। इसके साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री-मण्डल सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है, फिर भी मंत्री-मण्डल सचिवालय, मंत्री-मण्डल सचिवालय सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा था, अब मंत्री-मण्डल सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो, तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमन्त्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

8.7 शब्दावली

सचिवालय- सरकार को नीति-निर्माण में सहयोग करने वाला निकाय है। नीति-निर्माण के उपरान्त उसके क्रियान्वयन के सम्बन्ध में प्रमुख कार्यपालिका निकाय है।

प्रधानमन्त्री कार्यालय- प्रधानमन्त्री को उनके कार्यों के सम्पादन में (कार्यपालिका प्रमुख के रूप में) सहयोग करने वाला निकाय है।

मंत्री-मण्डलीय सचिवालय- भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों के बीच समन्वय स्थापित करने वाला निकाय है।

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य

8.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।

इकाई- 12 राज्य सचिवालय, मुख्य सचिव

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 राज्य सचिवालय
12.2.1 सचिवालय की उपयोगिता
12.2.2 संगठन
12.2.3 सचिवालय का संगठनात्मक ढाँचा
12.2.4 राज्य सचिवालय के कार्य
12.2.5 राज्य सचिवालय की कार्य प्रणाली
12.2.6 राज्य सचिवालय की समस्याऐं
12.3 मुख्य सचिव
12.3.1 मुख्य सचिव पद का उदय
12.3.2 मुख्य सचिव का चयन
12.3.3 राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव के कार्य
12.3.4 मुख्य सचिव की भूमिका
12.4 सारांश
12.5 शब्दावली
12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.9 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

भारत में राज्यों के शासन के लिए संसदीय ढाँचे को अपनाया गया है, राज्यों का प्रशासन संघीय शासन का प्रतिरूप है। राज्य प्रशासन में शीर्ष पर राज्यपाल और मंत्री-परिषद हैं। राज्यपाल औपचारिक कार्यकारी और मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यकारी है। मंत्री-परिषद को प्रशासन में सहायता प्रदान करने के लिये राज्यों में संघीय प्रशासन के समान मंत्री-मण्डल समितियां और सचिवालय है। राज्य सचिवालय विभिन्न विभागों में विभक्त होता है, जिसका राजनीतिक प्रमुख, मंत्री और प्रशासनिक प्रमुख, सचिव होते हैं।

शासन द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करने, नीतियों तथा योजनाओं को यथार्थ धरातल पर लागू करने एवं विकास और कल्याण कार्यों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए लोक सेवकों की विशाल संख्या कार्यरत रहती है। ये सभी लोक सेवक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सचिवालय के अधीन कार्य करते हैं। सचिवालय ही पूरे प्रदेश में नीति-निर्माण की भूमिका का निर्वहन करता है।

राज्य सचिवालय का प्रमुख, मुख्य सचिव कहलाता है। सामान्यतः यह प्रदेश के आई0ए0एस0 संवर्ग का सबसे वरिष्ठ अधिकारी होता हैं। मुख्य सचिव का मुख्य कार्य, नीति-निर्माण एवं उसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्य सचिवालय के गठन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राज्य सचिवालय की संरचना की विवेचना कर सकेंगे।
- राज्य सचिवालय के कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका का परीक्षण कर सकेंगे।

12.2 राज्य सचिवालय

हमारे देश में सचिवालय की व्यवस्था ब्रिटिश शासन-तन्त्र की विरासत है। जिस प्रकार से केन्द्र सरकार के समस्त मंत्रालयों एवं विभागों का सामूहिक रूप केन्द्रीय सचिवालय कहलाता है, उसी प्रकार राज्य सरकार के समस्त विभाग सम्मिलित रूप से राज्य सचिवालय के नाम से जाने जाते हैं। एक विभाग का राजनीतिक मुखिया, मंत्री तथा प्रशासनिक मुखिया सचिव कहलाता है। सामान्यतः राजनीतिक मंत्रियों के पास प्रशासनिक अनुभव की कमी होती है, उनके इस अनुभव की कमी को प्रशासनतंत्र में कार्यरत कार्मिक पूरी करते हैं। इसके साथ ही सचिवालय प्रशासन में निरन्तरता प्रदान करते हैं। मंत्री तथा सचिव तो आते-जाते रहते हैं, किन्तु सचिवालय सदैव रहता है और प्रशासन की निरन्तरता को बनाये रखता है।

12.2.1 सचिवालय की उपयोगिता

सचिवालय की उपयोगिता को निम्नलिखित आधारों पर समझाया जा सकता है-

1. मंत्रियों को सामान्यतः प्रशासन का अनुभव नहीं होता है। शासन के संचालन में सचिवालय के अधिकारी उनकी सहायता करते हैं।
2. मंत्रीगण समयाभाव के कारण प्रशासनिक कार्यों का संचालन समय से नहीं कर पाते हैं। यह कार्य सचिवालय के अधिकारी निष्पादित करते हैं।
3. सचिवालय एक स्थायी व्यवस्था होती है, जो कि सरकारों के पतन के पश्चात भी प्रशासन को निर्बाध गति से चलाती है।
4. नीति निर्माण, नियोजन, अनुश्रवण एवं मूल्यांकन में सचिवालय मुख्य कार्यकारी की भूमिका का निर्वहन करता है।

12.2.2 संगठन

संविधान के अनुच्छेद- 154(i) के द्वारा राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित की गयी है। जिसका प्रयोग वह अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। वस्तुतः राज्य का मुख्यमंत्री उसकी मंत्री-परिषद तथा सचिवालय एवं अन्य कार्यालयों के अधिकारी राज्यपाल की शक्तियों का व्यावहारिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार

10:42 44

12.2.4 राज्य सचिवालय के कार्य

राज्य प्रशासन की सर्वोच्च प्रशासनिक संस्था होने के कारण नीति एवं कानून निर्माण तथा अधीनस्थ संस्थाओं पर नियंत्रण का कार्य सचिवालय ही करता है। यहाँ सचिवालय के कार्यों से तात्पर्य सम्पूर्ण सविचालयी व्यवस्था या राज्य सरकार के किसी एक विभाग के कार्यों से है, क्योंकि सामान्य कार्य सभी विभागों में एक समान हैं, जबकि विशिष्ट कार्य विभागानुसार पृथक प्रकृति के हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप गृह विभाग के कार्यों में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना प्रमुख है, अतः पुलिस अधिकारियों तथा नियामकीय प्रवृत्तियों का बोलबाला रहता है, जबकि समाज कल्याण विभाग का कार्य निराश्रित एवं निर्योग्य व्यक्तियों को कल्याणकारी सेवाऐं उपलब्ध करवाना है। अतः यहाँ मानवीय संवेदनाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। लेकिन भारतीय प्रशासनिक-तंत्र की कार्यशैली में विभागीय आधार पर व्यापक स्तर पर अन्तरों को समझ पाना किंचित कठिन है।

राज्य सचिवालय के सभी विभागों के या किसी एक विभाग के कार्य निम्न होते हैं-

1. **विकास हेतु नीतियों का निर्माण-** सचिवालय का प्रमुख कार्य जन-कल्याण तथा विकास कार्यों को गति प्रदान करने के निमित्त सार्थक नीतियाँ एवं योजनाएँ तैयार करना है। अधिकांश नीतियां किसी एक विभाग के कार्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित होती हैं। ये नीतियाँ सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की मान्यताओं, कार्यशैली तथा उसके दृष्टिकोण से प्रभावित होती हैं। तथापि राज्य के संसाधन, जन-समस्याएँ तथा उपलब्ध प्रशासनिक तंत्र इनके निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। जब किसी विभाग की एक स्पष्ट एवं दूरगामी नीति तैयार एवं स्वीकृत हो जाती है, तब उस विभाग के उद्देश्य और कार्यक्रम मुख्यतः उस विभाग की नीति के इर्द-गिर्द घूमते हैं।

   पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं के माध्यम से राज्य का सर्वांगीण सामाजिक-आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर पंचवर्षीय योजनाएँ, योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद के माध्यम से निरूपित होती हैं, लेकिन राज्य के विकास के लिए योजनाओं का स्वरूप, आकार तथा आवश्यक धनराशि स्वीकृत करवाने के लिए राज्य प्रशासन को खासी मेहनत करनी पड़ती है। राज्य के विकास के लिए कतिपय योजनाएँ केन्द्र प्रवर्तित होती हैं, जबकि कुछ कार्यक्रम स्वयं राज्य सरकार द्वारा संचालित एवं वित्त-पोषित होते हैं। इन सभी नीतियों, कार्यक्रमों तथा योजनाओं का आकलन, निर्माण तथा स्वीकृति के क्रम में सचिवालय में कार्यरत मंत्रियों, सचिवों तथा अन्य विशेषज्ञों की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण रहती है।

2. **सुशासन हेतु नियमों एवं कानूनों का निर्माण-** आधुनिक राज्यों, शासन-व्यवस्थाओं तथा प्रशासनिक कृत्यों का मुख्य आधार कानून है। आज कानूनों के द्वारा ही न केवल व्यक्ति एवं समाज को नियंत्रित किया जाता है, बल्कि प्रवर्तित व्यवस्था को यथावत् रखते हुए विकास की राह पर अग्रसर हुआ जाता है। भारत के संविधान में वर्णित राज्य-सूची के विषयों के सन्दर्भ में कानून एवं नियमों का निर्माण करने हेतु राज्य सचिवालय अपनी अहम् भूमिका निर्वाहित करता है। तात्कालिक समस्याओं या परिस्थितियों के अनुसार नये विधेयक तैयार करना अथवा प्रचलित अधिनियमों में संशोधन करके उन्हें विधायिका में प्रस्तुत करने लायक बनाने से पूर्व तथ्यों, सूचनाओं तथा शासन की नीतियों का विश्लेषण करने का कार्य सचिवालय का है। सचिवालय में उपलब्ध सूचनाएँ एवं दस्तावेज कानूनों तथा नियमों के निरूपण में सहायता प्रदान करते हैं।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

3. **प्रशासनिक कार्यों का संचालन एवं नेतृत्व-** राज्य प्रशासन का शीर्ष प्रशासनिक संस्थान होने के कारण सचिवालय का यह दायित्व है कि वह सभी अधीनस्थ कार्यालयों तथा कार्मिकों के माध्यम से सरकार के कार्यक्रमों तथा कानूनों का कार्यान्वयन सुनिश्चत करे। इस समबन्ध में आने वाली बांधाओं तथा शंकाओं का समाधान करना, अधीनस्थ संस्थाओं को पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन प्रदान करना, चाही गयी सूचनाएँ एवं संसाधन उपलब्ध करवाना, आपत्तियों का निराकरण करना एवं आवश्यक दिशा-निर्देश प्रदान करने हेतु राज्य की सभी प्रशासनिक संस्थाओं का नेतृत्व करना सचिवालय का कार्य है। चूँकि राज्य सरकार का प्रत्येक प्रशासनिक अभिकरण सचिवालय के किसी न किसी विभाग के अधीन कार्य करता है, अतः प्रशासनिक नियंत्रण का कार्य सचिवालय का जिम्मा है।
4. **मानव संसाधन का विकास करना-** किसी भी संगठन के लिए मानव संसाधन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि शेष सभी संसाधनों का उपयोग मानव संसाधन अर्थात् कार्मिकों की कुशलता एवं प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है। राज्य प्रशासन में कार्यरत लोक सेवकों; सरकारी कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, स्थानान्तरण, वेतन एवं भत्ते तथा अन्य आवश्यक सेवा-नियमों और शर्तों का निर्धारण सचिवालय द्वारा किया जाता है। राज्य में नई कार्मिक सेवाओं का गठन, पदों का सृजन, कमी या बढ़ोत्तरी, वेतनमानों में संशोधन, कार्मिक आन्दोलनों पर कर्मचारी नेताओं से वार्ता तथा हड़ताल की स्थिति में प्रशासनिक तंत्र पर नियंत्रण इत्यादि सचिवालयी विभागों का कार्य है।
5. **संस्थाओं के मध्य समन्वय सुनिश्चित करना-** सकारात्मक प्रयासों के रूप में विभिन्न व्यक्तियों या संगठनों के मध्य आपसी सहयोग ही समन्वय है। वर्तमान में प्रशासनिक कार्यों की प्रकृति बहुविभागीय तथा विशिष्टीकरण युक्त है। उदाहरण के लिए जनसंख्या नियंत्रण में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग, श्रम एवं उद्योग विभाग तथा शिक्षा विभाग का आपसी तालमेल एवं सामंजस्य अत्यावश्यक है। प्रशासनिक कार्यों या निर्णयों के दौरान एक विभाग का दूसरे विभाग से कई बार संघर्ष एवं विवाद भी हो जाता है। इस प्रकार की अप्रिय स्थितियों से बचने अथवा उन्हें सुलझाने के क्रम में सचिवालय सतत प्रयास करता रहता है। सामान्यतः राज्य सचिवालय निम्न स्तरों पर समन्वय करता है-
    - विभिन्न अभिकरणों एवं राज्य प्रशासन के मध्य।
    - केन्द्र सरकार के मंत्रालयों/संस्थाओं एंव राज्य सरकार के विभागों के मध्य।
    - स्वयंसेवी संगठनों तथा राज्य प्रशासन के मध्य।
    - निजी संस्थाओं एवं राज्य सरकार के मध्य।
    - दबाव समूहों/संगठनों तथा राज्य सरकार के मध्य।
    - राजनीतिज्ञों तथा सरकारी कार्मिकों के मध्य।
    - एक ही विभाग के शीर्ष तथा अधीनस्थ कार्यालयों के मध्य।
    - आम जनता तथा प्रेस और राज्य प्रशासन के मध्य।
    - विभिन्न लोक उपक्रमों, आयोगों, कमेटियों तथा स्वायत्तशासी संस्थाओं के मध्य समन्वय सुनिश्चित करना।

वस्तुतः सचिवालय का कार्य, शासन की नीतियों, विधियों तथा कार्यक्रमों को जनकल्याण हेतु निष्पादित करवाना है। अतः इस सम्बन्ध में जिस स्तर पर कोई भी बांधा उत्पन्न हो, उसका निवारण सचिवालय के द्वारा होता है।

6. **बजट निर्माण तथा निष्पादन-** वित्त, आधुनिक प्रशासनतंत्र का रक्त है। प्रत्येक छोटा या बड़ा कार्य मुख्यतः वित्तीय संसाधनों पर निर्भर करता है, अतः वार्षिक आय-व्यय का लेखा 'बजट' के रूप में तैयार किया जाता है। प्रत्येक विभाग की स्थानीय शाखाएँ अपना बजट तैयार करके राजधानी स्थित सचिवालय में अपने विभाग के पास भेजती हैं। प्रत्येक विभाग का बजट मद; आइटम के अनुसार तैयार होता है। सचिवालय के विभागों द्वारा तैयार इस बजट को वित्त विभाग एकीकृत स्वरूप प्रदान करता है तथा अन्तिम रूप से कैबिनेट द्वारा स्वीकृत होने पर विधायिका में प्रस्तुत किया जाता है। विधायिका द्वारा स्वीकृति के पश्चात ही राज्य सरकार के विभाग विभिन्न प्रकार के व्यय कर सकते हैं तथा सेवाओं के बदले लगाए गये कर एवं शुल्क एकत्र कर सकते हैं। यदि किसी विभाग को आवंटित किया गया बजट किन्ही कारणों से कम पड़ता है तो उसकी परिस्थितिजन्य स्वीकृति सचिवालय ही प्रदान करता है।
7. **जन-सम्पर्क एवं जन शिकायत निवारण-** लोक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में संचालित योजनाएँ चूँकि जनसाधारण हेतु होती हैं, अतः उन योजनाओं एवं कार्यक्रमों का प्रसार-प्रचार भी आम जनता के मध्य प्रशासन द्वारा ही किया जाता है। आजकल रेडियो, टी0वी0 समाचार पत्रों, पोस्टर्स, होर्डिंग्स तथा प्रदर्शनियों के माध्यम से सरकार अपनी योजनाएँ जनसाधारण को सूचित करती है। आज का युग सूचना का युग है। अतः आम जनता तक प्रशासनिक कार्यकलापों की जानकारी पहुँचाना आवश्यक है।

   प्रशासनिक कार्यों तथा प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जनसाधारण को हुई असुविधा तथा राजकीय सम्पत्ति के दुरूपयोग इत्यादि के क्रम में असंख्य शिकायतें प्रतिदिन सचिवालय में प्राप्त होती हैं। इन शिकायतों का निवारण तथा दोषी कार्मिक के विरूद्ध कार्यवाही करने का कार्य सचिवालय द्वारा सम्पादित ही होता है।
8. **नियंत्रण एवं मूल्यांकन करना-** किसी भी कार्य की पूर्ण सफलता हेतु अति आवश्यक है कि उस कार्य का सतत् अनुश्रवण तथा एक निश्चित अवधि या पूर्ण समाप्ति पर मूल्यांकन (इवेल्युएशन) किया जाए। राज्य सरकार द्वारा कार्यान्वित योजनाओं तथा कार्यक्रमों का सचिवालय द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। क्षेत्रीय कार्यालयों तथा कार्मिकों द्वारा प्रेषित प्रगति प्रतिवेदन, आम जनता की परिवेदनाएँ, राज नेताओं का आकलन तथा आकस्मिक दौरों के माध्यम से योजनाओं के कार्य-संचालन एवं प्रगति पर नियंत्रण रखा जाता है। शीर्षस्थ नियंत्रणकर्ता के रूप में सचिवालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु अनेक प्रकार के नियम-विनियम, दिशा-निर्देश तथा परिपत्र जारी करता है, क्योंकि कार्यक्रम या योजना की सफलता उस पर रखे गये नियंत्रण पर अत्यधिक निर्भर करती है। राजकीय सामग्री के भंडार का सत्यापन तथा लेखा परीक्षण; ऑडिट के द्वारा भी नियंत्रण स्थापित किया जाता है।
9. **तथ्य एकत्रण एवं प्रतिवेदन तैयार करना-** लोक प्रशासन की प्रत्येक कार्यकारी संस्था अपने वार्षिक तथ्य, सूचना तथा सम्पर्क तैयार करती है। सचिवालय के विभाग भी अपने अधीनस्थ निदेशालयों तथा अन्य सम्बद्ध प्रशासनिक अभिकरणों के माध्यम से विभागीय आंकड़ों को एकत्र करते हैं। ये आंकड़े सूचना अथवा तथ्य, नई योजनाऐं बनाने तथा प्रवर्तित योजनाओं के प्रभाव को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के वार्षिक प्रगति विवरण राजनेताओं, विधायकों, शोधार्थियों तथा प्रशासकों के लिए

आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए ताकि अनावश्यक विलम्ब, आद को टाला जा सके। लालफीताशाही को रोकने के लिए सभी सचिवालयों में कर्मचारियों की संख्या कम की जानी चाहिए, शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए, लाइन एवं स्टाफ में स्पष्ट अन्तर होना चाहिए तथा सभी विभागों में एक-एक पृथक् प्रभाग समन्वय कार्य के लिए स्थापित किया जाना चाहिए।

12.3 मुख्य सचिव

मुख्य सचिव राज्य प्रशासन का प्रशासनिक प्रमुख होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के मंत्री-मण्डलीय सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह राज्य सचिवालय का मुख्य समन्वयकर्ता होता है। वह राज्य के समस्त एवं सामान्य प्रशासन का अध्यक्ष होता है। वह सचिवालय का ऐसा किंगपिन है, जो सभी स्तरों पर सचिवालय के सभी विभागों को परस्पर संयुक्त करता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है मुख्य सचिव का राजनीतिक प्रमुख मुख्यमंत्री होता है वह सचिवालय का सर्वेसर्वा होता है। सचिवालय के सभी विभागों पर उसका नियन्त्रण होता है, वह राज्य को अत्यन्त आवश्यक प्रशासकीय नेतृत्व प्रदान करता है, राज्य के सम्पर्क अधिकारी का कार्य करता है तथा अपने प्रदेश की सरकार और केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के मध्य संचार सूत्र का कार्य करता है।

12.3.1 मुख्य सचिव- पद का उदय

मुख्य सचिव का पद ब्रिटिश विरासत है। सन् 1898 में लॉर्ड बेलजली, जब भारत के गवर्नर जनरल बने तो उन्होंने केन्द्रीय सचिवालय का पुनर्गठन किया और उसी समय मुख्य सचिव का पद सृजित किया गया। ऐसे प्रमाण हैं कि जार्ज हिलेरो बालो पहले मुख्य सचिव नियुक्त हुए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति के बाद जब शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन आ गया तो धीरे-धीरे सभी प्रान्तों में मुख्य सचिव पद सृजित किए गये। उसे महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने के अधिकार प्रदान किए गये, जिनमें जिला स्तर के अधिकारियों की नियुक्तियां प्रमुख थीं।

12.3.2 मुख्य सचिव का चयन

मुख्य सचिव राज्य में आई0ए0एस0 का वरिष्ठतम अधिकारी होता है। सामान्यतया उसकी नियुक्ति 'वरिष्ठता' के आधार पर होती है, किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि मुख्य सचिव के चयन में योग्यता और अन्य बातें भी निर्णायक होती हैं। व्यवहार में मुख्य सचिव का चयन राज्य का मुख्यमंत्री करता है। परम्परा यह है कि ऐसा करते समय वह संघ सरकार से सलाह करता है, किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। वह अपने सहयोगी मन्त्रियों से भी सलाह कर सकता है, पर अन्तिम निर्णय उसी का होता है। डॉ0 मीना सोगानी के अनुसार मुख्य सचिव के चयन में जिन मुख्य तथ्यों को ध्यान में रखा जाता है वे निम्नलिखित हैं- वरीयता, सेवा अभिलेख, कार्य निष्पादन तथा योग्यता और मुख्यमन्त्री का अधिकारी में विश्वास।

हाल ही में विभिन्न राज्यों में मुख्य सचिवों के चयन से स्पष्ट होता है, कि सामान्यतया मुख्यमन्त्री अपनी पसन्द के व्यक्ति को ही मुख्य सचिव के पद पर नियुक्त करता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मुख्य सचिव के चयन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मुख्यमंत्री की ही होती है। डॉ0 एस0 आर0 माहेश्वरी के अनुसार, राज्य प्रशासन को सुचारू रूप से और प्रभावी ढंग से चलाने के लिए यह आवश्यक भी है कि मुख्यमंत्री और मुख्य सचिव के आपसी सम्बन्ध परस्पर ठोस विश्वास पर आधारित हों। प्रशासनिक सुधार आयोग का मत था कि मुख्य सचिव का चयन

बहुत ही सावधानी से किया जाना चाहिए। यह एक वरिष्ठतम, प्रभावी व्यक्ति होना चाहिए जिसे अपनी योग्यता, अनुभव, ईमानदारी और निष्पक्षता के कारण सभी अधिकारियों का विश्वास और आदर प्राप्त हो।

12.3.3 राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव के कार्य

राज्य का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी तथा मुख्यमंत्री के प्रमुख परामर्शदाता के रूप में पदासीन मुख्य सचिव के कार्य अत्यन्त विस्तृत तथा गम्भीर हैं। संक्षेप में मुख्य कार्य अग्रलिखित हैं-

1. राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए मुख्यमंत्री को परामर्श देना तथा स्वयं प्रशासनतंत्र को नेतृत्व प्रदान करना।
2. मंत्री-मण्डल सचिवालय के सचिव के रूप में राज्य की शासकीय नीतियों के निरूपण में सहायता करना।
3. मंत्री-मण्डल बैठकों की सूचना मंत्रिगण तक पहुँचाने, बैठक के निर्णयों को प्रशासनिक इकाइयों तक पहुँचाने तथा उनकी क्रियान्विति सुनिश्चित कराने के प्रयास करना।
4. केन्द्र-राज्य सम्बन्धों, क्षेत्रीय परिषदों के कार्यों तथा अन्तर्राज्यीय सम्पर्कों के क्रम में पत्र-व्यवहार एवं समन्वय करना।
5. राज्यपाल, मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों से सम्बन्धित संस्थापना प्रकरणों पर कार्यवाही करना।
6. राज्य क्षेत्र के बाहर के प्रकरणों में चिकित्सा सहायता उपलब्ध करवाना।
7. उच्च स्तरीय; मंत्रियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों, सभा, संगोष्ठियों तथा कार्यशालाओं से सम्बन्धित मामलों पर कार्यवाही करना।
8. राज्य के विकास हेतु कार्यक्रम एवं योजनाएँ बनवाने में सहायता करना।
9. राज्य प्रशासन से सम्बन्धित विधि/नियम निर्माण में परामर्श प्रदान करना।
10. जनगणना के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को राज्य प्रशासन द्वारा सहायता उपलब्ध करवाना।
11. संसद तथा राज्य विधान सभा में मुख्यमंत्री तथा मंत्रियों से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर हेतु तथ्य एवं सूचनाएं उलब्ध करवाना।
12. राज्य कर्मचारियों के वेतनमानों, पदों, पदोन्नतियों, स्थानानतरण, पुरस्कार तथा कार्मिक विकास से सम्बन्धित सेवाशर्तों का निर्माण करवाना।
13. विभिन्न प्रशासकीय संगठनों, स्वयंसेवी संस्थाओं, उद्योग मंडलों, दबाव समूहों, प्रेस तथा कार्मिक संघों से वार्तालाप करना तथा सरकार का पक्ष स्पष्ट करना।
14. केन्द्र सरकार के मंत्रालयों, राज्य सरकार के विभागों तथा अन्य अभिकरणों के मध्य विवाद की स्थिति में समन्वय स्थापित करवाना।
15. राज्य प्रशासन के कार्यकरण में शामिल संस्थाओं तथा कार्मिकों पर नियंत्रण, पर्यवेक्षण तथा मार्गदर्शन प्रदान करना।
16. विभिन्न विभागों से प्राप्त बजटीय अनुमानों को एकीकृत करते हुए मंत्री-मण्डल के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करवाना तथा विधायिका द्वारा स्वीकृत बजट को वास्तविक रूप से क्रियान्वित करवाना।
17. महत्वपूर्ण व्यक्तियों के राज्य के दौरे के समय व्यवस्थाएँ करवाना।
18. सांस्कृतिक आदान-प्रदान, कला एवं संस्कृति विकास, पुरस्कार एवं प्रोत्साहन, तथा करों एवं शुल्क के क्रम में आवश्यक कदम उठाना।

19. राज्य के प्रशासनतंत्र में संशोधन, सुधार, नवाचार तथा 'रूल्स ऑफ बिजनस' में परिवर्तन हेतु मंत्री-मण्डल को परामर्श देना।

12.3.4 मुख्य सचिव की भूमिका

राज्य प्रशासनिक तंत्र में मुख्य सचिव की भूमिका कई आयामों से महत्वपूर्ण तथा प्रशासनिक दृष्टि से सर्वोच्च है। मुख्यमंत्री के परामर्शदाता, राज्य कार्मिकों के नेतृत्वकर्त्ता तथा प्रशासनतंत्र की धुरी के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका को यहाँ निम्नांकित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है-

1. **मुख्यमंत्री के सहयोगी के रूप में-** किसी राज्य में नये मुख्यमंत्री तथा मंत्री-परिषद की स्थापना के साथ ही सामान्यतः मुख्य सचिव भी परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि लोक सेवक होने के नाते मुख्य सचिव राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष होता है। तथापि प्रत्येक मुख्यमंत्री अपनी इच्छा का मुख्य सचिव नियुक्त करना पसंद करता है, ताकि मुख्य सचिव उसे सूचना, तथ्य तथा समुचित परामर्श उपलब्ध करा सके एवं मुख्यमंत्री के मंतव्यों को समझते हुए कार्यक्रम निर्मित एवं कार्यान्वित करवा सके।

   मंत्री-मण्डल की बैठकों की व्यवस्था, वांछित सूचना या फाईल उपलब्ध कराना, महत्वपूर्ण मुद्दों पर अपना परामर्श देना तथा मंत्री-मण्डल के निर्णयों को लागू कराने में मुख्य सचिव की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि राज्य का मुख्यमंत्री अधिकांशतः मुख्य सचिव पर निर्भर रहता है। राज्य प्रशासन की नीतियों, कानूनों, कार्यक्रमों तथा नयी योजनाओं के निर्माण, मुख्यमंत्री द्वारा किये गये वायदों की क्रियान्वित इत्यादि में मुख्य सचिव बहुत कुशलता से अपना कार्य सम्पादित करता है, क्योंकि मंत्रिमंडलीय बैठकों तथा अन्य मंचों पर राजनीतिक मंत्रीगण कई प्रकार की बाध्यताओं तथा स्वार्थों से घिर कर अपना मत प्रकट करते हैं। जबकि मुख्य सचिव को अपने दीर्घ प्रशासनिक अनुभव एवं प्रवर्तित कानूनों के अनुसार निर्णय करना होता है।

   मुख्यमंत्री के दौरों, बैठकों तथा लोगों से मुलाकात के क्रम में मुख्यमंत्री के सचिव के साथ मुख्य सचिव भी तालमेल बैठाता है। राज्य सरकार के विभिन्न विभागों से महत्वपूर्ण तथा नीतिगत मुद्दों से जुड़े प्रकरणों की फाइलें मुख्य सचिव के पास आती हैं, जिन्हें वह मुख्यमंत्री के पास अग्रेषित करता है तथा सम्बन्धित प्रकारण पर अपनी टिप्पणी एवं परामर्श देता है। योग्य, चतुर तथा धैर्यवान मुख्य सचिव, कुछ विवादित प्रकरणों में कानून की पतली गलियों के माध्यम से अपने मुख्यमंत्री को संकट से उबार भी सकता है। मुख्यमंत्री के पास आने वाली जन-शिकायतों की जाँच तथा सुनवाई का कार्य मुख्य सचिव के माध्यम से ही सम्बन्धित विभाग तक भेजा जाता है।

2. **मुख्य प्रशासनिक अधिकारी के रूप में-** राज्य सचिवालय के विभागों के सभी सचिवों, निदेशालयों के निदेशकों, संभागीय आयुक्तों, जिला कलेक्टरों तथा अन्य सभी राज्य कर्मचारियों का शीर्षस्थ अधिकारी मुख्य सचिव होता है। इस स्थिति में मुख्य सचिव का यह दायित्व हो जाता है कि सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र को निर्देशित तथा समन्वित करें, ताकि किसी प्रकार की शिथिलता तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो। राज्य प्रशासन की किसी भी इकाई द्वारा किया गया विवादित कार्य या उच्च स्तरीय प्रशंसनीय कार्य अथवा दिखाई गयी लापरवाही के क्रम में अन्ततः मुख्य सचिव को जिम्मेदार बनना पड़ता है। इसलिए राज्य कार्मिकों के मनोबल को बढ़ाने हेतु उनके वेतनमानों, भत्तों तथा सुविधाओं में वृद्धि, पदोन्नति, पुरस्कार एवं प्रशिक्षण व्यवस्था में सुधार तथा सेवानियमों में समयानुकूल परिवर्तन तथा

अनुशासन हीनता के मामलों में दण्ड की कार्यवाहियों इत्यादि में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. **कुछ विभागों के प्रमुख के रूप में-** यद्यपि मुख्य सचिव राज्य के सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र का प्रशासनिक प्रमुख है। तथापि कुछ विभाग ऐसे हैं, जिनका सचिव पद, मुख्य सचिव द्वारा ही धारित किया जाता है। इन विभागों में प्रशासनिक सुधार विभाग, कार्मिक विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग तथा नियोजन विभाग प्रमुख हैं। यह स्थिति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है, फिर भी मुख्य सचिव की भूमिका संघीय सरकार के

अनुशासन हीनता के मामलों में दण्ड की कार्यवाहियों इत्यादि में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. **कुछ विभागों के प्रमुख के रूप में-** यद्यपि मुख्य सचिव राज्य के सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र का प्रशासनिक प्रमुख है। तथापि कुछ विभाग ऐसे हैं, जिनका सचिव पद, मुख्य सचिव द्वारा ही धारित किया जाता है। इन विभागों में प्रशासनिक सुधार विभाग, कार्मिक विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग तथा नियोजन विभाग प्रमुख हैं। यह स्थिति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है, फिर भी मुख्य सचिव की भूमिका संघीय सरकार के कैबिनेट सचिव से भिन्न है, क्योंकि कैबिनेट सचिव के अधीन प्रत्यक्षतः कोई मंत्रालय नहीं होता है, जबकि राज्यों के मुख्य सचिव के अधीन कुछ विभाग होते हैं।

   सामान्यतः महत्वपूर्ण प्रकृति के उन विभागों को जो राज्य प्रशासन में समन्वय स्थापित करने में अग्रणी हैं, को मुख्य सचिव के अधीन रखा जाता है। मुख्यमंत्री के साथ मिलकर राज्य की वार्षिक तथा पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण तथा श्रियोजन एवं विकास समन्वय समिति के अध्यक्ष के रूप में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कार्मिक विभाग में मुख्य कार्यों में अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों; राज्य संवर्ग के कार्यों का बंटवारा, पद-स्थापन, पदोन्नति, सेवानिवृत्ति, प्रशिक्षण, वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट, सेवानियम, आधार संहिता तथा उच्च स्तरीय निकायों जैसे लोकायुक्त, लोक सेवा आयोग, लोक उपक्रम इत्यादि में अधिकारियों की नियुक्ति के क्रम में मुख्यमंत्री, मुख्य सचिव से परामर्श करता है। प्रशासनिक सुधार विभाग के मुखिया के रूप में राज्य प्रशासनतंत्र से सुधार, संशोधन, प्रक्रिया परिवर्तन तथा नवाचारों को प्रोत्साहन देने का जिम्मा मुख्य सचिव का है। सामान्य विभाग के सचिव के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका, उच्च स्तरीय प्रतिनिधि मंडलों या महत्वपूर्ण व्यक्तियों के दौरों के समय व्यवस्थाएँ करवाने, पुरस्कार निर्धारण एवं वितरण, स्वयंसेवी संगठनों को सहायता देने, राजकीय भवनों तथा अतिथि गृहों की रक्षा, राज्य मोटर गैराज का प्रबन्ध तथा स्वतंत्रता सेनानियों के मामले, इत्यादि से सम्बन्धित होती है। सामान्यतः ये विभाग किसी मंत्री के अधीन नहीं होते, बल्कि मुख्यमंत्री ही इनका प्रभारी होता है, जिसे मुख्य सचिव प्रशासनिक सहायता प्रदान करता है।

4. **विभिन्न स्तरों पर समन्वयक के रूप में-** वर्तमान में जटिल होती प्रशासनिक संस्थाओं तथा विशेषज्ञता के कारण फैलते प्रशासनिक क्षेत्र में विविध अभिकरणों के मध्य सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करना परमावश्यक है। राज्य प्रशासन के प्रमुख अधिकारी के रूप में मुख्य सचिव को राज्य सरकार तथा केन्द्र सरकार एवं उनके विभिन्न मंत्रालयों या अभिकरणों से समन्वय स्थापित करना पड़ता है। विभिन्न प्रकार की पंचवर्षीय योजनाओं, विकास कार्यक्रमों, शांति एवं व्यवस्था, वित्तीय सहायता की प्राप्ति, अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों का कार्मिक प्रबन्ध तथा राज्य की विकास परियोजनाओं की मंजूरी इत्यादि के क्रम में मुख्य सचिव राज्य सरकार के विभागों और केन्द्र सरकार के कैबिनेट सचिव, मंत्रालयों एवं वित्तीय संस्थाओं के मध्य समन्वय स्थापित करता है। प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले मुख्य सचिव सम्मेलन में वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में होने वाले इस वार्षिक सम्मेलन में मुख्यतः केन्द्र-राज्य समन्वय की चर्चा होती है।

   राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 के अनुसरण में केन्दीय गृहमंत्री की अध्यक्षा में बनी क्षेत्रीय परिषद में सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों, योजना आयोग के प्रतिनिधि, विकास आयुक्त तथा राज्यों के मुख्य

सचिवों की अहम भूमिका होती है। दो या अधिक राज्यों के मध्य वाणिज्यिक, जलीय तथा करों से सम्बन्धित विवादों के मध्य अन्तर्विभागीय विवादों को निबटाने, विकास कार्यों में प्रत्येक विभाग का सहयोग सुनिश्चित करने, सचिवालय स्टॉफ को निर्देशित करने, विभागों की बैठकों को सम्बोधित करने, संभागीय आयुक्तों, विभागाध्यक्षों तथा जिलाधीशों की संगोष्ठियों की अध्यक्षता करने में मुख्य सचिव की एकमात्र उपयुक्त अधिकारी सिद्ध होता है, जो सहज रूप से सम्पूर्ण राज्य प्रशासन को एक सूत्र में पिरो सकता है। राज्य सरकार तथा प्रेस के मध्य, राज्य एवं दबाव समहों उद्योगपति/कर्मचारी संगठन तथा राज्य सरकार एवं निजी संगठनों के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण स्थापित कराने में भी मुख्य सचिव की महती भूमिका है।

सरकार तथा केन्द्र सरकार एवं उनके विभिन्न मंत्रालयों या अभिकरणों से समन्वय स्थापित करना पड़ता है। विभिन्न प्रकार की पंचवर्षीय योजनाओं, विकास कार्यक्रमों, शांति एवं व्यवस्था, वित्तीय सहायता की प्राप्ति, अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों का कार्मिक प्रबन्ध तथा राज्य की विकास परियोजनाओं की मंजूरी इत्यादि के क्रम में मुख्य सचिव राज्य सरकार के विभागों और केन्द्र सरकार के कैबिनेट सचिव, मंत्रालयों एवं वित्तीय संस्थाओं के मध्य समन्वय स्थापित करता है। प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले मुख्य सचिव सम्मेलन में वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में होने वाले इस वार्षिक सम्मेलन में मुख्यतः केन्द्र-राज्य समन्वय की चर्चा होती है।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 के अनुसरण में केन्दीय गृहमंत्री की अध्यक्षा में बनी क्षेत्रीय परिषद में सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों, योजना आयोग के प्रतिनिधि, विकास आयुक्त तथा राज्यों के मुख्य

सचिवों की अहम भूमिका होती है। दो या अधिक राज्यों के मध्य वाणिज्यिक, जलीय तथा करों से सम्बन्धित विवादों के मध्य अन्तर्विभागीय विवादों को निबटाने, विकास कार्यों में प्रत्येक विभाग का सहयोग सुनिश्चित करने, सचिवालय स्टॉफ को निर्देशित करने, विभागों की बैठकों को सम्बोधित करने, संभागीय आयुक्तों, विभागाध्यक्षों तथा जिलाधीशों की संगोष्ठियों की अध्यक्षता करने में मुख्य सचिव की एकमात्र उपयुक्त अधिकारी सिद्ध होता है, जो सहज रूप से सम्पूर्ण राज्य प्रशासन को एक सूत्र में पिरो सकता है। राज्य सरकार तथा प्रेस के मध्य, राज्य एवं दबाव समहों उद्योगपति/कर्मचारी संगठन तथा राज्य सरकार एवं निजी संगठनों के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण स्थापित कराने में भी मुख्य सचिव की महती भूमिका है।

5. **आपातकाल में महत्वपूर्ण भूमिका-** युद्ध तथा अशांति या वित्तीय संकट के कारण घोषित होने वाले राष्ट्रीय आपातकाल; इमर्जेन्सी तथा राज्य में संवैधानिक तंत्र की असफलता पर राष्ट्रपति शासन की घोषणा के समय राज्य सरकार का मंत्री-मण्डल चूँकि निष्क्रिय हो जाता है, अतः राज्यपाल वास्तविक सत्ता बन जाता है। इस स्थिति में मुख्य सचिव की राज्यपाल के प्रति आस्था वैसी ही हो जाती है, जैसी कि पूर्व में मुख्यमंत्री के साथ थी। राज्य के शासन-प्रशासन कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए मुख्य सचिव को राज्यपाल महोदय के परामर्शदाता एवं कार्यकारी या निष्पादक अधिकारी की भूमिका निभानी पड़ती है। आपातकालीन परिस्थितियों में गठित की जाने वाली कमेटियों में भी मुख्य सचिव अहम भूमिका निभाता है।

मुख्य सचिव राज्य के पुलिस महानिदेशक तथा महानिरीक्षक एवं गुप्तचर अभिकरणों के अधिकारियों के माध्यम से राज्य की कानून एवं व्यवस्था की अद्यतन सूचनाएँ निरन्तर प्राप्त करता है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, राष्ट्रीय आयोगों, स्वयंसेवी संस्थाओं, कल्याणकारी न्यासों, साहसिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में संलग्न निकायों एवं आम जनता से मुख्य सचिव दैनन्दिन सम्पर्क करता है। सारांशतः राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण एवं गंभीर दायित्वों से युक्त है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 में पारित किया गया? सत्य/असत्य
2. राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। सत्य/असत्य
3. मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है। सत्य/असत्य

12.4 सारांश

राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। इसका मुख्य कार्य सुशासन हेतु नीतियों का निर्माण करना है। इसके साथ ही नीतियों के सफल क्रियान्वयन हेतु अनुश्रवण एवं मूल्यांकन की व्यवस्था भी सचिवालय के ही जिम्मे है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में विभागों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। विभागों की संख्या का निर्धारण राज्य का मंत्री-मण्डल करता है। संगठनात्मक दृष्टि से राज्य सचिवालय का मुखिया मुख्यमंत्री होता है, क्योंकि वह मंत्री-परिषद का अध्यक्ष भी होता है। प्रशासनिक स्तर पर सचिवालय का मुख्य अधिकारी मुख्य सचिव होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के कैबिनेट सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है, इसके साथ ही

2. राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। सत्य/असत्य
3. मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है। सत्य/असत्य

12.4 सारांश

राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। इसका मुख्य कार्य सुशासन हेतु नीतियों का निर्माण करना है। इसके साथ ही नीतियों के सफल क्रियान्वयन हेतु अनुश्रवण एवं मूल्यांकन की व्यवस्था भी सचिवालय के ही जिम्मे है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में विभागों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। विभागों की संख्या का निर्धारण राज्य का मंत्री-मण्डल करता है। संगठनात्मक दृष्टि से राज्य सचिवालय का मुखिया मुख्यमंत्री होता है, क्योंकि वह मंत्री-परिषद का अध्यक्ष भी होता है। प्रशासनिक स्तर पर सचिवालय का मुख्य अधिकारी मुख्य सचिव होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के कैबिनेट सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है, इसके साथ ही

सचिवालय के सभी विभागों पर उसका नियंत्रण होता है। मुख्य सचिव का चयन राज्य का मुख्यमंत्री करता है। मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है।

12.5 शब्दावली

निदेशालय- सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी संस्था।

ए0पी0सी0- कृषि उत्पादन आयुक्त।

आई0ए0एस0- भारतीय प्रशासनिक सेवा।

रूल्स आफ बिजनेस- कार्य के सम्पादन हेतु नियमावली।

12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. इण्डियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2001, साहित्य भवन, पब्लिकेशन्स, आगरा।

12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, अवस्थी एवं अवस्थी 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. राज्य प्रशासन, डॉ0 सुरेन्द्र कटारिया 1999, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।

12.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. राज्य सचिवालय के संगठन एवं उपयोगिता का उल्लेख कीजिये।
2. राज्य सचिवालय के कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन कीजिये।
4. राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका का परीक्षण कीजिये।

10:58 44 Edit Annotate Fill & Sign Convert All

इकाई 18 विधायी नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 विधायी नियंत्रण की संकल्पना
18.3 विधायी नियंत्रण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
18.4 संवैधानिक उपबंध, 1950
18.5 कराधान पर नियंत्रण
18.6 लोक व्यय पर नियंत्रण–एक मूल्यांकन
18.7 सारांश
18.8 शब्दावली
18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विधायी नियंत्रण की संकल्पना की व्याख्या करने,
- विधायी नियंत्रण के संवैधानिक उपबंधों तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करने,
- कराधान पर लगाए गए नियंत्रण की सीमा का परीक्षण करने, तथा
- लोक व्यय पर नियंत्रण का मूल्यांकन तथा व्याख्या करने के योग्य हो जाएँगे।

18.1 प्रस्तावना

किसी भी देश का वित्तीय प्रशासन क) विधानमंडल, ख) कार्यपालिका, ग) वित्त विभाग, घ) लेखा परीक्षा, ड) संसदीय समितियों,, द्वारा निष्पादित किया जाता है। लोकतंत्र में विधानमंडल ही एक सक्षम अंग है जो सरकार को टैक्स एकत्र करने का प्राधिकार प्रदान करता है। विधायी स्वीकृति के बिना न तो धन का विनियोजन किया जाता है और न ही टैक्स इकट्ठा किया जा सकता है। यह करों को लगा भी सकता है, कम भी कर सकता है और उन्हें हटा भी सकता है। सिद्धांत में कार्यपालिका मांग करती है और विधानमंडल स्वीकृति देता है। इसलिए सरकार को अपनी बजट योजना पर कार्य करने से पहले इसे संसद द्वारा पारित करवाना होता है। इसे बजट का अधिनियम कहा जाता है।

संसद में बजट पर बहस सदस्यों को विभिन्न विभागों तथा मंत्रालयों की कार्यप्रणाली की समीक्षा करने का अवसर देती है। यह उन्हें सरकार द्वारा शुरू किए गए विभिन्न कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में हुई उन्नति की जानकारी प्राप्त करने का अधिकार देती है। सदस्यों को बजट में शामिल नए व्यय प्रस्तावों के आर्थिक तथा सामाजिक निहितार्थों तथा औचित्य एवं परीक्षण का अवसर मिलता है।

बजट के अनुमोदन के बाद संसद द्वारा विनियोजन अधिनियम पारित किया जाता है जिससे कार्यपालिका को विभिन्न अनुदानों में सम्मिलित आबंटनों के व्यय का प्राधिकार प्राप्त होता है। वित्त मंत्रालय, वित्तीय शक्तियों के प्रत्यायोजन द्वारा बजट के कार्यान्वयन के दौरान वित्तीय नियंत्रण के अपने दायित्वों को प्रशासनिक मंत्रालयों के साथ बांट लेता है। विधायी

नियंत्रण का पालन लोक लेखा, आकलन, अधीनस्थ विधान, सरकारी उपक्रम तथा आश्वासन समिति जैसी संसदीय समितियों के कार्यों के द्वारा किया जाता है।

भारत का लेखानियंत्रक तक महालेखा परीक्षक, जो संविधान के अनुसार एक सांविधिक प्राधिकरण है–संसद के सजग प्रहरी की तरह कार्य करता है और यह देखने के लिए

10:58

44

नियंत्रण का पालन लोक लेखा, आकलन, अधीनस्थ विधान, सरकारी उपक्रम तथा आश्वासन समिति जैसी संसदीय समितियों के कार्यों के द्वारा किया जाता है।

भारत का लेखानियंत्रक तक महालेखा परीक्षक, जो संविधान के अनुसार एक सांविधिक प्राधिकरण है–संसद के सजग प्रहरी की तरह कार्य करता है और यह देखने के लिए लेखा-परीक्षा करता है कि कार्यपालिका द्वारा किए गए व्यय संसद के द्वारा बहुमत से स्वीकृत और संस्वीकृत अनुदान के अनुसार ही हैं। भारत का लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक वित्तीय औचित्य की अवहेलना, धन का गबन जैसी वित्तीय अनियमितताओं तथा व्यतिक्रम संबंधी मामलों का विवरण लोकलेखा समिति को देता है ताकि वह आवश्यकतानुसार कार्रवाई कर सके। लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा किए गए लेखा विनियोजन तथा विवरण की जाँच करते समय समिति जाँच की विस्तृत पद्धति का आचरण करती है। लोकलेखा समिति के द्वारा लेखा रिपोर्ट का पुनरीक्षण कार्यपालिका के विनियोजित अनुदानों पर संसद के वित्तीय नियंत्रण के चक्र को पूरा करता है।

संपूर्ण प्रशासनिक कार्यप्रणाली विधानमंडल के प्रभावी नियंत्रण के अंतर्गत आती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रत्येक कार्रवाई पर प्रश्न, प्रत्येक प्रश्न पर एक स्थगन बहस और प्रत्येक स्थगन बहस पर एक सविस्तार बहस हो सकती है। इसके अतिरिक्त संसदीय समितियाँ भी सरकार पर नियंत्रण रख सकती हैं।

18.2 विधायी नियंत्रण की संकल्पना

संसद राजस्व, व्यय, ऋणदान तथा लेखे-जोखे पर नियंत्रण कर सकती है। ऋणों को बढ़ाने, लोक व्यय के लिए संचित निधि में से धन निकालने, मौजूदा टैक्सों की दरों में वृद्धि तथा नए करों को लगाने के लिए विधायी स्वीकृति की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक खातों की लोक लेखा समिति द्वारा जाँच की जाती है और एक सांविधिक प्राधिकरण द्वारा लेखा परीक्षण किया जाता है जो कि कार्यपालिका से स्वतंत्र होता है। भारतीय संदर्भ में, वित्तीय नियंत्रण के लिए निम्न चार नियमों का अनुसरण किया जाता है :

i) मंत्रियों के रूप में कार्य करती हुई कार्यपालिका संसद के प्राधिकार के बिना ऋणदान, कराधान के द्वारा या दूसरे किसी उपाय से धन का जुगाड़ नहीं कर सकती, व्ययों के प्रस्ताव, जिनके लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है केवल मंत्रीमंडल द्वारा ही पेश किए जाने चाहिए।

ii) दूसरा नियम धन विधेयकों पर लोकसभा का एकमात्र नियंत्रण है। इसे पहले लोकसभा में पेश किया जाता है और लोकसभा के पास ही यह अधिकार है कि वह व्यय को प्राधिकृत करने के लिए ऋणों अथवा करों के रूप में धन की स्वीकृति दे सकती है। राज्यसभा अनुदान को अस्वीकार तो कर सकती है परन्तु इसे लागू नहीं करवा सकती है।

iii) अनुदान की मांग सरकार द्वारा की जानी चाहिए। सरकार द्वारा अनुदान की मांग के अतिरिक्त किसी अनुदान को न तो राज्यसभा और न ही लोकसभा स्वीकृत कर सकती है।

iv) इसी तरह, किसी भी नए कर अथवा मौजूदा कर में वृद्धि के प्रस्तावों का भी सरकार द्वारा पेश किया जाना आवश्यक है।

भारत में प्रश्न, कार्य स्थगन प्रस्ताव, संकल्प, वोट, बजट तथा विधायी समिति लोक लेखा, आकलन, अधीनस्थ विधान, और आश्वासन समिति विधायी नियंत्रण के साधन हैं। विधायी नियंत्रण के इन तरीकों का वर्णन यहां संक्षेप में किया गया है :

1) **प्रश्न अवधि** : प्रत्येक संसदीय दिवस का पहला घंटा प्रश्नों के लिए रखा गया है जिससे नियंत्रण प्रभावी हो जाता है। पूछे गए प्रश्न समूचे प्रशासन को सावधान कर सकते हैं। प्रश्न प्रशासन की नीतियों तथा गतिविधियों के विभिन्न पहलुओं पर जनता

के ध्यान को प्रभावशाली ढंग से संकेन्द्रित करने का सफल साधन है। किसी भी प्रशासनिक कार्रवाई पर प्रश्न किया जा सकता है हालांकि सदस्य मंत्री को उत्तर देने

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:58 44

1) **प्रश्न अवधि** : प्रत्येक संसदीय दिवस का पहला घंटा प्रश्नों के लिए रखा गया है जिससे नियंत्रण प्रभावी हो जाता है। पूछे गए प्रश्न समूचे प्रशासन को सावधान कर सकते हैं। प्रश्न प्रशासन की नीतियों तथा गतिविधियों के विभिन्न पहलुओं पर जनता

के ध्यान को प्रभावशाली ढंग से संकेन्द्रित करने का सफल साधन है। किसी भी प्रशासनिक कार्रवाई पर प्रश्न किया जा सकता है हालांकि सदस्य मंत्री को उत्तर देने के लिए विवश नहीं कर सकते। अध्यक्ष भी कुछ प्रश्नों को पूछने की अनुमति नहीं देता। आमतौर पर प्रश्न तथाकथित कमजोर मुद्दों पर सरकार पर प्रहार करने के लिए अथवा किसी विषय पर मंत्री की राय तथा सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से पूछे जाते हैं। बहुत से प्रश्न हल्के फुल्के हो सकते हैं। मगर कुछ सरकार को जबरदस्त हानि पहुंचाते है जैसे 1956 का जीवन बीमा निगम का विवाद केवल एक ही प्रश्न के उत्तर से शुरू हुआ था जिससे वित्तमंत्री को त्यागपत्र देना पड़ा था।

यह उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने वाली सर्वप्रिय, सर्वविदित सामान्यतः प्रयोग में लाई जाने वाली विधि है। समय-समय पर सदस्य अपने प्रश्नों के द्वारा महत्वपूर्ण विषयों को उठाते रहे हैं।

2) **कार्य स्थगन वादविवाद** : यह एक दैनिक नियंत्रण का साधन है तथा सार्वजनिक हित के विशिष्ट तथा किसी भी अनिवार्य प्रश्न को सदन में बहस के लिए रखा जा सकता है। अगर पीठासीन अधिकारी की अनुमति हो तो उठाए गए विषय पर तत्काल बहस शुरू हो जाती है, इस प्रकार सदन के नियमित कार्य को स्थगित कर दिया जाता है। व्यवहार में, यह देखा गया है कि अध्यक्ष "तुरंत प्रकृति तथा जनहित" शब्द को व्याख्यायित करने की कोशिश नहीं करता है।

3) **अधिनियम के संशोधन तथा अधिनियमन पर वाद-विवाद** : किसी भी विधेयक के बार-बार पढ़ने से संसद के सदस्यों को विधेयक की सम्पूर्ण नीति की आलोचना करने में सहायता मिलती है। आलोचना से सरकार के हृदय में परिवर्तन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए सरकार ने 1957 में अत्यधिक विवादास्पद हिंदी कोड विधेयक को वापिस ले लिया था। इसी तरह जब कभी भी अधिनियम में संशोधन के लिए संसद में प्रस्ताव पेश किया जाता है तो सदस्यों को एक बार फिर से उस पर चर्चा करने का अवसर मिलता है।

4) **बजट परिचर्चा** : लेखे (हिसाब) पर बजट के विषय प्रवेश (परिचय) से संसद को बजट-प्रस्तावों पर बहस करने के अनेक अवसर मिलते हैं। संसद सदस्यों को बजट पर चर्चा करने के लिए भिन्न स्थितियों में निम्न अवसर मिलते हैं :

   क) बजट के प्रस्तुतीकरण के बाद आम चर्चा होती है। इस अवसर पर चर्चा समूचे बजट अथवा उसके सिद्धांतों के किसी भी प्रश्न से संबंधित होती है।

   ख) अनुदानों पर मतदान के समय दूसरा अवसर मिलता है। मांग की प्रत्येक मद पर चर्चा होती है। अगर उसमें उठाए गए विशिष्ट मद पर कटौती प्रस्ताव रखा जाता है तो चर्चा अत्यधिक तर्कसंगत है और इसे विशिष्ट विषय पर संकेन्द्रित किया जा सकता है।

   ग) वित्त विधेयक पर परिचर्चा से समूचे प्रशासन की चर्चा करने के अनेक अवसर मिलते हैं। जी.वी. मावलंकर के शब्दों में "यह एक स्वीकृत सिद्धांत है कि वित्त विधेयक में किसी भी विषय पर बहस की जा सकती है और किसी भी शिकायत पर खुले आम विचार-विमर्श किया जा सकता है। नियम यह है कि किसी भी नागरिक को अपनी शिकायतों तथा विचारों का प्रतिनिधित्व करने के लिए नहीं बुलाया जाना चाहिए जब तक संसद उसे इस बात की पूर्ण छूट न दे दे।"

5) **राष्ट्रपति का भाषण** : बजट सत्र के शुरू होने पर राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों को एक साथ संबोधित करता है। भाषण सरकार द्वारा तैयार किया जाता है और प्रत्येक मंत्रालय उससे संबंधित मांग के लिए उत्तरदायी होता है। राष्ट्रपति अपने भाषण में उन प्रमुख नीतियों तथा गतिविधियों की विस्तृत जानकारी देता है जिन्हें कार्यपालिका निकट भविष्य में कार्यान्वित करने के लिए पूर्वाधिकृत कर चुकी होगी। संसद सदस्यों को प्रशासन के समूचे क्षेत्र की उसकी भूलचूक के तथाकथित कार्यों की समीक्षा करने का अवसर मिलता है।

6) **संसदीय समितियाँ** : संसदीय समितियाँ—लोक लेखा समिति, आकलन समिति, लोक उपक्रम समिति, अधीनस्थ विधान समिति तथा आश्वासन समिति प्रशासन पर

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:58

44

नियंत्रण के साधन है। पहली तीन समितियां तो वास्तविक तथा विस्तृत नियंत्रण करती है और आश्वासन समिति मंत्रियों द्वारा समय-समय पर सदन में दिए गए आश्वासनों तथा वचनों की छानबीन करती है और निम्न विषयों की जानकारी देती है–i) ऐसे वायदों तथा आश्वासनों को किस सीमा तक पूरा किया गया है, ii) कहाँ पूरा किया गया है, क्या ऐसे कार्यान्वयन को कम से कम समय में पूरा किया गया है। ऐसी समितियाँ मंत्रियों को अपने वायदों को पूरा करने के लिए सतर्क करती है।

7) **लेखा-परीक्षण** : संसद लेखानियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के द्वारा सरकारी व्ययों पर नियंत्रण करती है जो सभी सरकारी लेखों का हिसाब-किताब रखता है ताकि सुनिश्चित कर सके कि संसद द्वारा स्वीकृत धन को बिना अनुपूरक वोट के बढ़ाया नहीं गया और धन का व्यय नियमों के अनुसार ही किया गया है। इस प्रकार वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में संसद के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व लेखानियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक की रिपोर्टों से प्राप्त किया जाता है जिसे ठीक ही संसद का "मार्गदर्शक, मित्र तथा तत्वज्ञ" माना गया है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

1) विधायी नियंत्रण क्या है? विधायी नियंत्रण के नियमों की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

2) विधायी नियंत्रण का प्रयोग करने वाले विभिन्न साधन कौन से हैं? व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

18.3 विधायी नियंत्रण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हालांकि बजट पर पूर्ण नियंत्रण इसी सदी की संकल्पना है मगर इसका विकास मध्ययुग के अंत में शुरू हुआ था जबकि राजा के अधिकार क्षेत्र में राजस्व एकत्र करना शामिल होता था। इस प्रकार बजट राजस्व तथा व्यय का एक विवरण था। युद्ध तथा अन्य आपात स्थितियों के दौरान जब राजा को राज्य के कार्यों के लिये अत्यधिक धन की आवश्यकता होती थी तो उसे कुलीन वर्ग की राय जानने के लिए उनसे परामर्श करना पड़ता था। अभी तक व्यय राजा का ही विशेषाधिकार था। 1688 की क्रांति के बाद "प्रतिनिधित्व के बिना राजस्व नहीं" नियम की स्थापना हुई। अभी भी व्यय नियंत्रण पर विधायी स्वीकृति की परम्परा शुरू हुई थी।

लोक वित्त पर विधायी नियंत्रण की प्रथा सर्वप्रथम इंग्लैंड में शुरू हुई और लगातार विकसित होती गई। इस दिशा में किंग जॉन के शासन में उठाया गया पहला प्रयास व्यय की अपेक्षा राजस्व तथा प्राप्तियों (आय) पर नियंत्रण था। स्टुअर्ट की निरंकुशता ने सभासदों को और अधिक आग्रही बना दिया और वे सरकारी व्यय पर नियंत्रण में भागीदारी का दावा करने लगे। मगर ऐसा अचानक नहीं हुआ अथवा किसी संगठित योजना रूपरेखा के अनुसार यह कार्यान्वित नहीं हुआ था या यह कोई नियोजित प्रयास नहीं था जो धीरे-धीरे विकसित हुआ हो।

1987 में लेखाकरण तथा विवरण पद्धति की स्थापना 1866 के राजकोष तथा लेखा परीक्षण विभाग अधिनियम के अंतर्गत लेखा परीक्षण प्रथा और 1866 में हाउस ऑफ कॉमन्स में लोकलेखों की स्थायी समिति का संविधान विधायी नियंत्रण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विकास थे।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:59
44

1987 में लेखाकरण तथा विवरण पद्धति की स्थापना 1866 के राजकोष तथा लेखा परीक्षण विभाग अधिनियम के अंतर्गत लेखा परीक्षण प्रथा और 1866 में हाउस ऑफ कॉमन्स में लोकलेखों की स्थायी समिति का संविधान विधायी नियंत्रण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विकास थे।

इस प्रकार लेखा परीक्षण तथा विवरण की आधुनिक प्रणाली का निर्माण हुआ जिसके अनुसार विधान मंडल राज्य की वित्त व्यवस्था पर नियंत्रण करते थे। भारत में विधायी नियंत्रण की प्रणाली लगभग इंग्लैंड में प्रचलित प्रणाली पर आधारित है।

18.4 संवैधानिक उपबंध, 1950

भारतीय संविधान अपने विभिन्न अनुच्छेदों में वित्तीय मामलों में विधायी प्रक्रिया की व्याख्या करता है। भारतीय संविधान के मुख्य उपबंध नीचे दिए गए हैं :

अनुच्छेद 107(i) के अनुसार अनुच्छेद 109 तथा 117 के उपबंधों के अधीन धन विधेयक और अन्य वित्तीय विधेयकों के विषय में, एक विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रारंभ किया जा सकता है और अनुच्छेद 108 तथा 109 के उपबंध के अधीन कोई भी विधेयक संसद के एक सदन द्वारा पारित हुआ नहीं माना जाएगा जब तक दोनों सदन इससे सहमत न हों जाएँ, चाहे यह संशोधनों सहित अथवा ऐसे संशोधनों के बिना हो, मगर दोनों सदनों की सहमति जरूरी है।

अनुच्छेद 109(i) के अनुसार एक धन विधेयक राज्यसभा में प्रारंभ नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 109(ii) लोकसभा द्वारा पारित धन विधेयक को राज्यसभा में उसके सुझावों के लिए भेजा जाता है और राज्यसभा को इस विधेयक की प्राप्ति की तिथि के पन्द्रह दिनों के अंतर्गत अपनी सिफारिशों सहित लोकसभा को वापिस भेजना होता है और लोकसभा राज्यसभा की सभी अथवा कुछ सिफारिशों को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत कर सकती है। अनुच्छेद 109(iii) के अनुसार अगर लोकसभा राज्यसभा की सिफारिशों में से किसी को स्वीकार करती है तो विधेयक राज्यसभा द्वारा बताए गए संशोधनों सहित दोनों सदनों द्वारा माना जाएगा।

अनुच्छेद 112(i) से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को प्रत्येक वित्तीय वर्ष के विषय में भारत सरकार के वर्ष भर के आकल्लित व्ययों तथा आय का विवरण संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखना होता है। ऐसे विवरण को "वार्षिक वित्तीय विवरण" कहा गया है।

अनुच्छेद 113(i) के अनुसार भारत की संचित निधि पर प्रभारित व्यय से संबंधित काफी अनुमानों को संसद की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। मगर इस धारा में उन अनुमानों में से किसी पर भी संसद के किसी भी सदन में परिचर्चा को रोकने का प्रावधान नहीं है।

अनुच्छेद 114(i) के अनुसार ज्यों ही अनुच्छेद 113 के अधीन अनुदान लोकसभा द्वारा पेश हो जाएंगे त्यों ही सभी धन संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत की संचित निधि में से विनियोजन के लिए विधेयक प्रारंभ किया जाएगा :

क) लोकसभा द्वारा किए गए अनुदान

ख) भारत की संचित निधि पर प्रभारित व्यय: मगर संसद के समक्ष पहले से रखे गए विवरण में दिखाए गए धन में किसी भी प्रकार से वृद्धि नहीं हो।

अनुच्छेद 116(i) के अनुसार लोकसभा के पास निम्न शक्तियाँ होंगी :

क) उस व्यय के विषय में अनुच्छेद 114 के उपबंधों के अनुसार क़ानून को पारित करना और ऐसे अनुदान की स्वीकृति के लिए अनुच्छेद 113 में निर्धारित प्रक्रिया की निष्पत्ति के विचाराधीन किसी वित्तीय वर्ष के अनुमानित व्यय के एक भाग के विषय में पहले से ही अनुदान बनाना।

ख) जब सेवा के अनिश्चित स्वरूप अथवा विस्तार के कारण मांग वार्षिक वित्तीय विवरण में साधारणतया दिए गए ब्यौरे से निश्चित नहीं किये जा सकते तो भारत के संसाधनों पर आकस्मिक मांग को पूरा करने के लिए अनुदान करना।

ग) एक विशिष्ट अनदान बनाना, जो किसी वित्तीय वर्ष की सामायिक सेवा का हिस्सा

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

जैसा कि हमारे संविधान के अनुच्छेद 265 में स्पष्ट प्रस्तुत किया गया है। अतः जबकि विनियोजन विधेयक सरकार को संचित निधि में से धन का विनियोजन करने का अधिकार देता है तो वित्त विधेयक इसे करों को एकत्र करने का अधिकार देता है।

वित्त विधेयक में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सरकार के वित्तीय (कराधान) प्रस्तावों को शामिल किया जाता है जिन्हें प्रति वर्ष संसद को पारित करना होता है। इसमें खुली बहस की जाती है। संशोधनों द्वारा किसी भी कर में कटौती अथवा उसके उन्मूलन का प्रस्ताव किया जा सकता है मगर हो सकता है नए करों अथवा मौजूदा करों की दर में कोई वृद्धि का प्रस्ताव न हो। संशोधित विधेयक लोकसभा द्वारा पारित किया जाता है और राज्यसभा द्वारा विचार विमर्श के बाद यह राष्ट्रपति के पास उसके हस्ताक्षर के लिए जाता है, जिसके बाद विधेयक अधिनियम बन जाता है।

धन विधेयक का संबंध कराधान, ऋणदान अथवा व्ययों से होता है। बजट सत्र के शुरू होते ही बजट प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखे जाते हैं। धन विधेयकों के लिए प्राधिकार लोकसभा के पास ही है तथा इसीलिए लोकसभा ही विधेयक की आगे की कार्रवाई करती है। वित्त मंत्री लोकसभा के सामने वार्षिक वित्तीय विवरण प्रस्तुत करता है और उस प्रस्तुतीकरण के बाद दोनों सदनों में अलग-अलग समूचे वित्तीय वितरण पर आम चर्चा की जाती है। व्यय के किसी भी मद को आम बहस में छोड़ा नहीं जाता। मगर बहस केवल नीति से संबंधित सामान्य स्वरूप पर ही होनी चाहिए जिसमें सम्बद्ध विभागों के प्रशासन की समीक्षा तथा पुनरीक्षण हो तथा शायद्‌ सदस्य लोगों की शिकायतों को भी अभिव्यक्त करें।

एक धन विधेयक किसी भी तरह निम्न संदर्भों में वित्त विधेयक से भिन्न होता है:

क) एक धन विधेयक केवल कराधान, ऋणदान अथवा व्यय के संबंधित होता है। जबकि वित्त विधेयक का क्षेत्र विस्तृत होता है जिसमें यह उपरोक्त के अलावा अन्य मामलों पर भी विचार करता है।

ख) धन विधेयक ऐसा विधेयक है जिसे लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा प्रमाणित किया जाना होता है जबकि वित्त विधेयक के लिए ऐसा प्रमाण आवश्यक नहीं है।

ग) एक धन विधेयक को राज्यसभा को इसकी प्राप्ति के 14 दिनों के अंतर्गत अपनी सिफारिशों सहित, अगर हैं तो, जिन्हें मानना लोकसभा के लिए जरूरी नहीं होता, लोकसभा को लौटाना जरूरी होता है। एक वित्त विधेयक पर मतभेद को किसी भी तरह संयुक्त बैठक में उपस्थित सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा दूर किया जा सकता है।

18.6 लोक व्यय पर नियंत्रण–एक मूल्यांकन

विधान मंडल का कार्य लोक व्यय के लिए अनुदान पर मतदान से समाप्त नहीं होता। इसे यह भी देखना होता है कि दी गई निधि (धन) का उपयोग दिए गए निर्देशों के अनुसार निष्ठापूर्वक तथा किफायत से किया गया है। संसद को अपने संदेहों को भी दूर करना होता है कि (1) निधि को अनुमोदित उद्देश्यों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है, (2) विनियुक्त राशि के अन्तर्गत ही, (3) व्यर्थ तथा बेतुके खर्चों से बचा गया है आदि। इस कार्य के लिए भारत के महानियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक के द्वारा सभी विभागीय खातों का अलग-अलग लेखा जोखा रखा जाता है जिसकी रिपोर्ट का परीक्षण किसी भी संसदीय समिति द्वारा होता है।

संसद के प्रति राजनैतिक कार्यपालक का संयुक्त दायित्व संसदीय लोकतंत्र का आवश्यक गुण है। संसद द्वारा कार्यपालक पर किया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण नियंत्रण बटुए की डोरी पर नियंत्रण है। कार्यपालक संसद की स्वीकृति के बिना धन का व्यय नहीं कर सकता।

भारतीय लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक द्वारा लेखा परीक्षण

व्यय पर संसद का नियंत्रण तभी पूर्ण है जब यह स्वयं निश्चित कर सके कि कार्यपालिका द्वारा किए गए खर्चे उन्हीं कार्यों के लिए किए गए हैं जिनकी अनुमति दी गई थी। ऐसा एक

स्वतंत्र प्राधिकरण भारत का लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक द्वारा लेखों के परीक्षण के प्रावधान द्वारा निश्चित किया गया है। वह संघ तथा राज्यों के सभी व्ययों का परीक्षण करता है तथा पता लगाता है कि खातों में दिखाया गया व्यय हुआ धन उन कार्यों, जिनके लिए उसका प्रयोग किया गया है, कानूनन उपयुक्त तथा उपलब्ध था। वह राज्यों तथा केन्द्र के अन्य सभी लेखों का भी परीक्षण करता है। वह लेखा परीक्षण की अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति तथा गवर्नरों को भेजता है ताकि उसे राज्य विधानमंडलों तथा राष्ट्रपति के समक्ष रखा जा सके। वह किसी भी फजूलखर्च तथा अयोग्यता की सूचना देता है। वह लेखाकरण अथवा वित्तीय सिद्धांत जिनमें विवाद हो, ऐसे लेनदेन व्यवहारों जिनमें भारी हानि हुई हो अथवा हो सकती हो, नई सेवाओं पर व्यय और निर्धारित कार्य प्रणाली तथा पूर्वनिर्णयों से विचलन संबंधी मामलों पर स्पष्ट टीका टिप्पणी करता है। संसद को पूरी रिपोर्ट तथा सम्पूर्ण लेखा-परीक्षण की जानकारी देने के लिए संविधान द्वारा लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक को स्वतंत्र पद दिया गया है।

चूंकि संसद लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्टों पर गंभीर कानूनी चर्चा करने के लिए एक अत्यधिक दुष्प्रयोजनीय निकाय है, यह रिपोर्टों को विस्तृत परीक्षण के लिए संसद की विशेष समितियों को अत्यधिक भेजती है। इस प्रकार की कुछ महत्वपूर्ण समितियों की नीचे चर्चा की गई है।

लोक लेखा समिति

लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की लेखा परीक्षण रिपोर्ट को संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। लेखा परीक्षण रिपोर्ट का परीक्षण कार्य संसद की विशेष समिति को सौंपा जाता है जिसे लोक लेखा समिति के नाम से जाना जाता है।

लोक लेखों पर समिति के नियंत्रण संबंधी नियम 143 से पता चलता है :

1) लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट तथा भारत सरकार के विनियोजन लेखों की जाँच के बाद लोक लेखा समिति का कर्त्तव्य होगा कि अपने संदेहों को खत्म करें :
   - क) कि वितरित किया गया धन जो खाते में दिखाया गया था, सेवा अथवा कार्य जिसके लिए भी प्रयोग में लाया जाना था अथवा जिसके खर्चे में लिखा गया था, कानूनन उपलब्ध तथा उपयुक्त था।
   - ख) कि व्यय उस प्राधिकरण के अनुसार किया गया जो इस पर नियंत्रण रखता है, तथा
   - ग) कि प्रत्येक पुनर्विनियोजन विनियोजन अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार किया गया है, अथवा उक्त अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत सक्षम प्राधिकरण के द्वारा नियमों को बनाया गया है।
2) लोक लेखों पर समिति का कर्त्तव्य होगा कि :
   - क) ऐसे लेन-देन, निर्माण और लाभ तथा हानि के खातों और बैलेंस शीट (तुलन पत्र) का परीक्षण करे। क्योंकि लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्टों के पश्चात् राष्ट्रपति को इसकी आवश्यकता हो।
   - ख) लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक की रिपोर्ट के उन मामलों पर विचार करे जिनमें राष्ट्रपति को आय (प्राप्ति) का लेखा-जोखा रखने अथवा माल तथा भंडार के लेखे-जोखे का परीक्षण करने के लिए उसकी ज़रूरत पड़े।

लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की लेखा परीक्षण रिपोर्ट पर लोक लेखा समिति के निष्कर्ष सरकार द्वारा आवश्यकतानुसार सिफारिशों सहित कार्रवाई के लिए संसद के समक्ष रखे जाते हैं। इस प्रकार लोक लेखा समिति संसद द्वारा स्वीकृत व्यय के विषय में कार्यपालक के उत्तरदायित्व को सुदृढ़ बनाने की प्रक्रिया है।

आकलन समिति

लोक लेखा समिति की प्रक्रिया के द्वारा संसद अपने द्वारा स्वीकृत व्यय के विषय में

कार्यपालक के उत्तरदायित्व को सुदृढ़ बनाने के योग्य रही है। आकलन समिति की प्रक्रिया ही संसद के सामने विचारार्थ रखे जाने से पहले वित्त मंत्रालय के अनुमानों को ब्यौरेवार जाँच का विषय बनाती है।

10:59 65
44

कार्यपालक के उत्तरदायित्व को सुदृढ़ बनाने के योग्य रही है। आकल्लन समिति की प्रक्रिया ही संसद के सामने विचारार्थ रखे जाने से पहले वित्त मंत्रालय के अनुमानों को ब्यौरेवार जाँच का विषय बनाती है।

समिति के कार्य हैं :

1) यह विवरण देना कि संगठनात्मक कार्यक्षमता में वृद्धि अथवा अधीनस्थ नीति के अनुकूल प्रशासनिक सुधार, दोनों में से क्या ज्यादा लाभकारी है।
2) प्रशासन में व्यवस्था तथा कार्यदक्षता के लिए विकल्प नीतियों को सुझाना।
3) आकल्लनों में अन्तर्निहित नीति की सीमाओं के अंतर्गत ही धन के व्यय का परीक्षण करना।
4) ऐसे ढंग सुझाना जिनके द्वारा संसद के सामने आकल्लन पेश किए जा सकें।

समिति प्रतिवर्ष कुछ विभागों का चयन करती है उनकी कार्यप्रणाली की विस्तृत जाँच करती है तथा उसकी अर्थनीतियों, संगठनों, नीति संबंधी मामलों आदि पर सुझाव देती है।

सरकारी उपक्रमों पर समिति

समिति द्वारा सरकारी उपक्रमों की जांच उनके कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन ही है जिसमें नीतियों का कार्यान्वयन, कार्यक्रम, व्यवस्था, वित्तीय सफलता जैसे महत्वपूर्ण पहलू आते हैं। समिति लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक की सरकारी उपक्रमों की रिपोर्ट के उस भाग पर विचार करती है जो उसे भेजा जाता है।

रिपोर्ट की जांच के बाद, सरकारी उपक्रम समिति अपने सुझावों सहित इसे संसद में भेजती है। इस समिति की रिपोर्ट के साथ-साथ लेखा नियंत्रक तथा लेखा महा परीक्षक की रिपोर्ट लोक व्यय पर संसद के नियंत्रण का उपयोगी साधन होती है।

संसद का प्रत्यक्ष नियंत्रण

संसद आकल्लन समिति और लोक लेखा समिति की रिपोर्टों की जांच के द्वारा लोक व्यय पर प्रत्यक्ष नियंत्रण करती है। महालेखा परीक्षक तथा समितियों द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्टों पर आम बहस की जाती है। सरकार को, अगर कोई आरोप लगाए गए हों, तो उनका उत्तर देना होता है।

अतः पूर्ववर्ती चर्चा से यह स्पष्ट है कि संसद सरकार के व्यय के लिए धन की स्वीकृति देती है मगर यह निम्न बातों का पता लगाने के लिए समुचित कदम उठाती है:

क) व्यय निर्धारित नियमों के अनुसार हुआ है।
ख) व्यय में किफायत (मितव्ययता) का ध्यान रखा गया है।
ग) कोई धोखाधड़ी, गबन और दुष्प्रयोजन तो नहीं किया गया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) लोक व्यय पर नियंत्रण का आवश्यक क्यों समझा जाता है? बजट पर नियंत्रण करने वाली संसदीय समितियों के कार्यों की चर्चा कीजिए।

....
....
....
....

2) लोक व्यय पर नियंत्रण में भारत के लेखा नियंत्रक तथा महा लेखापरीक्षक की भूमिका की चर्चा कीजिए।

....

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

10:59 44

2) लोक व्यय पर नियंत्रण में भारत के लेखा नियंत्रक तथा महा लेखापरीक्षक की भूमिका की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

18.7 सारांश

सुचारू (सही) प्रशासन की आवश्यकता अनिवार्य हो गई है क्योंकि सरकार के व्यय अत्यधिक बढ़ गए हैं। वित्तीय प्रशासन दिन प्रतिदिन जटिल होता जा रहा है। इसमें कर-दाताओं से इकठ्ठा किए जाने वाले धन का लेखा-जोखा, व्यय तथा उत्थापन आते हैं। निधि की आवश्यकता कार्यपालक को होती है, विधान मंडल द्वारा स्वीकृति, प्रशासनिक मंत्रालयों द्वारा व्यय तथा लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा लेखा परीक्षण होता है।

लोकतांत्रिक सिद्धांतों के अनुसार संसद की पूर्वसहमति को छोड़कर सरकार के द्वारा कोई भी कर न तो लगाया जा सकता है और न ही एकत्र किया जा सकता है और न ही कोई व्यय किया जा सकता है। प्राय: यह तर्क दिया गया है कि संसद का वित्तीय प्रशासन पर नियंत्रण ज्यादा नाममात्र है। अनुदान के लिए अनुरोधों को बदला नहीं जा सकता क्योंकि उन्हें कार्यपालक द्वारा पेश किया जाता है जो कि संसद के बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है। तथापि, सरकार की बजट प्रस्तावों में परिवर्तन करने की शक्ति को पूर्ण रूप से समझना जरूरी है जिसका सरकार संभवत: प्रयोग नहीं करती मगर यह सच्चाई कि संसद के पास यह अधिकार है ही कार्यपालक पर अत्यधिक प्राधिकार प्रस्तुत करता है।

सरकार के बजट प्रस्तावों में आमतौर पर संसद परिवर्तन नहीं करती परन्तु बजटीय प्रक्रिया सदस्यों को सरकार की नीति की समीक्षा करने के कई अवसर प्रदान करती है। बजट पर आम बहस के दौरान सदस्य सरकार की सामान्य नीति की आलोचना कर सकते हैं और विकल्प भी प्रस्तुत कर सकते हैं। विभिन्न विभागों के अनुदानों पर बहस के दौरान संसद विशिष्ट विभागों की कार्य प्रणाली की विस्तृत जांच कर सकती है और उसे सुधारने के लिए सुझाव भी दे सकती है। इसी तरह, वित्त विधेयक तथा विनियोजन विधेयक पर बहसं के अवसर भी दिए गए हैं।

18.8 शब्दावली

वित्त विधेयक : वित्त विधेयक में आगामी वित्त वर्ष के लिए सरकार के वित्तीय (कराधान) प्रस्तावों को प्रस्तुत किया जाता है जिसे प्रतिवर्ष संसद द्वारा पारित किया जाना होता है। इसका क्षेत्र विस्तृत होता है जिसमें यह दूसरे मामलों से भी संबंध रखता है।

धन विधेयक : धन विधेयक का संबंध विशेषतया कराधान, ऋणादान अथवा व्यय के साथ होता है। एक धनविधेयक को लोकसभा के अध्यक्ष के द्वारा ऐसा विधेयक प्रमाणित करना होता है।

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, आर.एन. 1966, *फाइनैंशिअल कॅमिटिज् ऑफ इंडियन पार्लियामेंट*, एस चांद एंड कम्पनी, दिल्ली।

भांबरी, सी.पी. 1959, *पार्लियामेंटरी कंट्रोल ऑवर फाइनैंस इन इंडिया*, जयप्रकाश नाथ, मेरठ।

गाडोक, डी.एन. 1976, *पार्लियामेंटरी कंटरोल ऑवर गवर्नमेंट एक्सपेंडीचर*, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

इकाई–V

अध्याय–10

प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण
(Executive Control Over Administration)

प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण से तात्पर्य राजनैतिक कार्यपालिका द्वारा नौकरशाही अर्थात स्थाई कार्यपालिका, लोक सेवकों के कार्यों पर नियंत्रण से है। इस प्रकार के नियंत्रण भारत और इंग्लैण्ड में केबिनेट और मंत्रियों द्वारा लगाये जाते हैं। संसदीय लोकतंत्र में शासन की नीतियों का क्रियान्वयन नौकरशाही (लोक सेवकों) द्वारा किया जाता है। साथ ही संसदीय लोकतंत्र में शासन के समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व राजनैतिक कार्यपालिका (मंत्रि परिषद) पर होता है जो अपने कार्यों के लिए संसद (व्यवस्थापिका) के प्रति उत्तरदायी होती है। यद्यपि राजनैतिक कार्यपालिका द्वारा निर्मित नीतियों का क्रियान्वयन नौकरशाही (लोक सेवकों) द्वारा किया जाता है परन्तु लोक सेवा से संबद्ध किसी अधिकारी और कर्मचारी को उनके द्वारा किये गये कार्यों के उत्तरदायित्व के लिए संसद (व्यवस्थापिका) के समक्ष नहीं बुलाया जा सकता है। समस्त सफलता और असफलताओं का उत्तरदायित्व संबधित विभाग के मंत्री या केबिनेट का ही होता है। इस उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका (राजनैतिक) का प्रशासन पर प्रभावी नियंत्रण हो। राजनैतिक कार्यपालिका जिन साधनों से प्रशासन (स्थाई कार्यपालिका) पर नियंत्रण करती है, वे अग्रवत् हैं :–

(1) राजनैतिक निर्देश (नीति निर्माण) [Political Instructions (Policy Formulation)]

संसदीय लोकतंत्र में मंत्रिमण्डल नीतियों का निर्माण करके व्यवस्थापिका (संसद) से स्वीकृत कराने के लिए उत्तरदायी है और निर्मित नीतियों को लागू करने का कार्य लोकसेवकों द्वारा किया जाता है। चूंकि नीतियों के सफल क्रियान्वयन हेतु भी राजनैतिक कार्यपालिका (केबिनेट) उत्तरदायी होती है। अतः इन नीतियों के सफल कार्यान्वयन की दृष्टि से कार्यपालिका के पास लोक सेवकों के निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण, समन्वय एवं नियंत्रण की शक्ति होती है। साथ ही मंत्री जो कि एक या एक से अधिक विभागों का प्रभारी होता है। विभागीय नीति और निर्देश तैयार करता है और (प्रशासकों पर) इन नीतियों के क्रियान्वयन के दौरान पर्यवेक्षण व समन्वय का कार्य करता है। इस प्रकार राजनैतिक निर्देशो के द्वारा मंत्री अपने विभाग/ मंत्रालय के प्रशासकीय अभिकरणों की क्रियाओं पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करता है। विभागीय अधिकारी प्रत्यक्ष और पूर्णरूपेण मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(2) बजट द्वारा नियंत्रण (Control through Budget)

कार्यपालिका बजट प्रणाली के माध्यम से भी प्रशासन पर नियंत्रण रखती है। यह बजट का निर्माण करती है और व्यवस्थापिका से इसे पारित कराती है तथा प्रशासकीय अभिकरणों को उनके व्ययों हेतु आवश्यक कोष आवंटित करती है। इन सब गतिविधियों में वित्त मंत्रालय (जो कि भारत सरकार का केन्द्रीय वित्तीय अभिकरण है) महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वित्त मंत्रालय प्रशासन पर निम्न विधियों से वित्तीय नियंत्रण स्थापित करता है :

1. विभागों/मंत्रालयों की नीतियों एवं कार्यक्रमों के सिद्धान्त के रूप में अनुमोदन द्वारा,
2. बजट अनुमानों के प्रावधानों की स्वीकृति द्वारा,
3. प्रत्यायोजित शक्ति के अधीन व्ययों की स्वीकृति द्वारा,
4. वित्तीय सलाह द्वारा,
5. अनुदानों के पुर्नविनियोग द्वारा,
6. आन्तरिक अंकेक्षण व्यवस्था द्वारा तथा
7. व्यय करने वाले प्राधिकारियों के लिए वित्तीय संहिता के निर्माण द्वारा।

(3) नियुक्ति और निष्कासन के द्वारा नियंत्रण
(Control through Appointment and Removal)

कार्यपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण का यह सबसे प्रभावी तरीका है। कार्यपालिका, कार्मिक प्रबन्ध और नियंत्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। कार्यपालिका के इस कार्य में कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग, वित्त विभाग और संघ

लोक सेवा आयोग सहायता करते हैं। मंत्री, जो अपने विभाग का प्रमुख होता है, अपने विभाग के सचिव और विभागाध्यक्षों

11:02
44

(3) नियुक्ति और निष्कासन के द्वारा नियंत्रण
(Control through Appointment and Removal)

कार्यपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण का यह सबसे प्रभावी तरीका है। कार्यपालिका, कार्मिक प्रबन्ध और नियंत्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। कार्यपालिका के इस कार्य में कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग, वित्त विभाग और संघ

लोक सेवा आयोग सहायता करते हैं। मंत्री, जो अपने विभाग का प्रमुख होता है, अपने विभाग के सचिव और विभागाध्यक्षों जैसे उच्च प्रशासकों के चयन और नियुक्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा अपने विभागों के प्रशासन में इन नियुक्तियों के माध्यम से पूर्ण नियंत्रण रखता है। यद्यपि कार्मिकों की भर्ती संघ/राज्यों के लोक सेवा आयोगों द्वारा की जाती है किन्तु भर्ती के नियम, योग्यता आदि कार्यपालिका द्वारा निर्धारित किये जाते हैं एवं कार्यपालिका को कार्मिकों के निष्कासन/पद नियुक्ति करने का अधिकार भी प्राप्त है।

(4) प्रत्यायोजित विधान (Delegated legislation)

प्रत्यायोजित विधान या कार्यपालिका व्यवस्थापन भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। व्यवस्थापिका के कार्यकलापों में वृद्धि होने, समयाभाव एवं तकनीकी विशेषज्ञों के अभाव के कारण, आजकल व्यवस्थापिका नीति का एक मोटा प्रारूप तैयार कर उससे सम्बन्धित बारीकियों पर विधि निर्माण का अधिकार कार्यपालिका को दे देती है इसे ही प्रत्यायोजित विधान कहा जाता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका से प्राप्त प्रारूप के आधार पर नियम, विनियम, सेवा शर्तें, अधिकार क्षेत्र कर्त्तव्यों आदि का निर्धारण करती है।

(5) अध्यादेशों के द्वारा नियंत्रण (Control through ordinance)

भारत का संविधान मुख्य कार्यपालक (केन्द्र में राष्ट्रपति एवं राज्यों में राज्यपाल) को व्यवस्थापिका (संसद/विधानसभा) का अधिवेशन नहीं चलने के दौरान आकस्मिक परिस्थितियों का सामना करने के लिए अध्यादेश जारी करने को अधिकृत करता है। यह अध्यादेश व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की भांति ही आधिकारिक एवं शक्ति सम्पन्न होता है और प्रशासन के कार्यों को शासित करता है।

(6) लोक सेवा आचार संहिता द्वारा नियंत्रण (Control through Code of Coduct of public service)

कार्यपालिका द्वारा लोक सेवा संहिता का निर्धारण किया जाता है जिसका सभी प्रशासकों को उनकी कार्यालयी शक्तियों के प्रयोग के दौरान पालन करना अनिवार्य होता है इन आचरण नियमों से केवल लोकसेवाओं में अनुशासन और कार्यकुशलता बनाये रखने मे सहायता मिलती है वरन् ये प्रशासकों को उनकी शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने में भी सहायक होते हैं। भारत में ऐसे नियमों में मुख्यतः निम्न नियम हैं :

1. अखिल भारतीय सेवायें (आचरण) नियम, 1954
2. केन्द्रीय सिविल सेवा (आचरण) नियम, 1955
3. रेलवे सेवा (आचरण) नियम, 1956,

ये आचरण नियम मुख्यतः राज्य के प्रति वफादारी उच्चाधिकारियों का सम्मान, आदेशों की पालना, लोकसेवकों की राजनैतिक–गतिविधियों, सम्पत्ति, मद्यपान, दूसरे विवाह पर प्रतिबन्ध इत्यादि से संबन्धित हैं।

प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण की समस्याएं
(Problems of Executive Control Over Administration)

प्रशासन पर कार्यपालिका के प्रभावी नियंत्रण की प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं :

1. मंत्रियों का चयन योग्यता व अनुभव पर आधारित नहीं होकर उनके चयन का आधार राजनीतिक होता है।
2. मंत्री पेशेवर प्रशासक नहीं होते। उन्हें विभाग का कार्य सौंपे जाने से पूर्व या बाद मे कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता और वे विषय विशेषज्ञ नही होते हैं।
3. मंत्रियों का अधिकांश समय राजनीतिक गतिविधियो में ही व्यतीत हो जाता है। फलस्वरूप वे विभागीय कार्यों को समझने में समय नहीं दे पाते।
4. सरकार का अस्थायित्व व मंत्रियों के विभागों मे नित नये परिवर्तन, ये ऐसे तथ्य हैं जो प्रभावी नियंत्रण के मार्ग में बाधक हैं।
5. मंत्रियों के विपरीत प्रशासन के अधिकारी योग्य, अनुभवी, कुशल, एवं विशेषज्ञ होते हैं। इसलिए मंत्री इन अधिकारियों पर आश्रित रहते हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के कारण सरकार राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं वरन् लोकसेवकों द्वारा संचालित होती है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से मंत्रिमण्डल निर्माण में विशेषज्ञों को महत्त्व दिया जाने लगा है। यदि इस प्रवृत्ति को बढ़ाया गया और मंत्रिमण्डल निर्माण में अधिकाधिक योग्य, प्रतिभाशाली, लोकप्रिय और विशेषज्ञों को स्थान दिया गया तो प्रशासन पर कार्यपालिका का प्रभावी नियंत्रण स्थापित हो सकेगा।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:03
44

(Control through Appointment and Removal)

कार्यपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण का यह सबसे प्रभावी तरीका है। कार्यपालिका, कार्मिक प्रबन्ध और नियंत्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। कार्यपालिका के इस कार्य में कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग, वित्त विभाग और संघ

लोक सेवा आयोग सहायता करते हैं। मंत्री, जो अपने विभाग का प्रमुख होता है, अपने विभाग के सचिव और विभागाध्यक्षों जैसे उच्च प्रशासकों के चयन और नियुक्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा अपने विभागों के प्रशासन में इन नियुक्तियों के माध्यम से पूर्ण नियंत्रण रखता है। यद्यपि कार्मिकों की भर्ती संघ/राज्यों के लोक सेवा आयोगों द्वारा की जाती है किन्तु भर्ती के नियम, योग्यता आदि कार्यपालिका द्वारा निर्धारित किये जाते हैं एवं कार्यपालिका को कार्मिकों के निष्कासन/पद नियुक्ति करने का अधिकार भी प्राप्त है।

(4) प्रत्यायोजित विधान (Delegated legislation)

प्रत्यायोजित विधान या कार्यपालिका व्यवस्थापन भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। व्यवस्थापिका के कार्यकलापों में वृद्धि होने, समयाभाव एवं तकनीकी विशेषज्ञों के अभाव के कारण, आजकल व्यवस्थापिका नीति का एक मोटा प्रारूप तैयार कर उससे सम्बन्धित बारीकियों पर विधि निर्माण का अधिकार कार्यपालिका को दे देती है इसे ही प्रत्यायोजित विधान कहा जाता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका से प्राप्त प्रारूप के आधार पर नियम, विनियम, सेवा शर्तें, अधिकार क्षेत्र कर्त्तव्यों आदि का निर्धारण करती है।

(5) अध्यादेशों के द्वारा नियंत्रण (Control through ordinance)

भारत का संविधान मुख्य कार्यपालक (केन्द्र में राष्ट्रपति एवं राज्यों में राज्यपाल) को व्यवस्थापिका (संसद/विधानसभा) का अधिवेशन नहीं चलने के दौरान आकस्मिक परिस्थितियों का सामना करने के लिए अध्यादेश जारी करने को अधिकृत करता है। यह अध्यादेश व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की भांति ही आधिकारिक एवं शक्ति सम्पन्न होता है और प्रशासन के कार्यों को शासित करता है।

(6) लोक सेवा आचार संहिता द्वारा नियंत्रण (Control through Code of Coduct of public service)

कार्यपालिका द्वारा लोक सेवा संहिता का निर्धारण किया जाता है जिसका सभी प्रशासकों को उनकी कार्यालयी शक्तियों के प्रयोग के दौरान पालन करना अनिवार्य होता है इन आचरण नियमों से केवल लोकसेवाओं में अनुशासन और कार्यकुशलता बनाये रखने मे सहायता मिलती है वरन् ये प्रशासकों को उनकी शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने में भी सहायक होते हैं। भारत में ऐसे नियमों में मुख्यतः निम्न नियम हैं :

1. अखिल भारतीय सेवायें (आचरण) नियम, 1954
2. केन्द्रीय सिविल सेवा (आचरण) नियम, 1955
3. रेलवे सेवा (आचरण) नियम, 1956,

ये आचरण नियम मुख्यतः राज्य के प्रति वफादारी उच्चाधिकारियों का सम्मान, आदेशों की पालना, लोकसेवकों की राजनैतिक–गतिविधियों, सम्पत्ति, मद्यपान, दूसरे विवाह पर प्रतिबन्ध इत्यादि से संबन्धित हैं।

प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण की समस्याएं

(Problems of Executive Control Over Administration)

प्रशासन पर कार्यपालिका के प्रभावी नियंत्रण की प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं :

1. मंत्रियों का चयन योग्यता व अनुभव पर आधारित नहीं होकर उनके चयन का आधार राजनीतिक होता है।
2. मंत्री पेशेवर प्रशासक नहीं होते। उन्हें विभाग का कार्य सौंपे जाने से पूर्व या बाद में कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता और वे विषय विशेषज्ञ नहीं होते हैं।
3. मंत्रियों का अधिकांश समय राजनीतिक गतिविधियो में ही व्यतीत हो जाता है। फलस्वरूप वे विभागीय कार्यों को समझने में समय नहीं दे पाते।
4. सरकार का अस्थायित्व व मंत्रियों के विभागों में नित नये परिवर्तन, ये ऐसे तथ्य हैं जो प्रभावी नियंत्रण के मार्ग में बाधक हैं।
5. मंत्रियों के विपरीत प्रशासन के अधिकारी योग्य, अनुभवी, कुशल, एवं विशेषज्ञ होते हैं। इसलिए मंत्री इन अधिकारियों पर आश्रित रहते हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के कारण सरकार राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं वरन् लोकसेवकों द्वारा संचालित होती है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से मंत्रिमण्डल निर्माण में विशेषज्ञों को महत्त्व दिया जाने लगा है। यदि इस प्रवृत्ति को बढ़ाया गया और मंत्रिमण्डल निर्माण में अधिकाधिक योग्य, प्रतिभाशाली, लोकप्रिय और विशेषज्ञों को स्थान दिया गया तो प्रशासन पर कार्यपालिका का प्रभावी नियंत्रण स्थापित हो सकेगा।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:03 64
44

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्मित नीतियों का क्रियान्वयन प्रशासनिक कार्यपालिका अथवा अधिकारी तंत्र द्वारा किया जाता है।
- प्रशासनिक कार्यपालिका अपने किये गये कृत्यों के लिए संसद के प्रति प्रत्यक्षतः उत्तरदायी नहीं है।
- प्रशासनिक सफलताओं–असफलताओं का उत्तरदायित्व सम्बन्धित विभाग के प्रभारी मंत्री या केबिनेट का होता है अतः प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण की आवश्यकता है।
- कार्यपालिका नियंत्रण के साधन हैं : राजनैतिक निर्देश (नीति–निर्माण), बजट द्वारा, प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति व निष्कासन का अधिकार, प्रत्यायोजित विधान, अध्यादेश व लोक सेवा संहिता के निर्माण द्वारा।
- कार्यपालिका नियंत्रण की समस्याएँ हैं : मंत्रियों का चयन योग्यता के स्थान पर राजनीतिक आधार पर होता है, मंत्री विषय विशेषज्ञ नहीं होते, मंत्रियों के पास समय का अभाव, सरकार का अस्थायित्व, मंत्रियों की तुलना में प्रशासक अधिक कुशल व विशेषज्ञ होने के कारण प्रभावी नहीं हो पाता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

(1) निम्न में से कौनसा साधन कार्यपालिका नियंत्रण के अन्तर्गत नहीं आता ?
(अ) नियुक्ति एवं पदच्युति (ब) लोक सेवा संहिता
(स) योजनाएँ (द) प्रश्नकाल ( )

(2) लोक प्रशासन पर कार्यपालिका–नियंत्रण की प्रभावशीलता निम्नांकित में से किन किन पर निर्भर है ?
(अ) लोक सेवकों तथा मंत्रियों के बीच सम्बन्ध
(ब) मंत्रियों के अनुभव व योग्यताएँ
(स) मंत्रियों का विशेषज्ञ होना
(द) उपरोक्त सभी ( )

(3) निम्नांकित में से कौनसा एक तरीका प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण का नहीं है ?
(अ) सेवा नियम बनाना
(ब) अधिकारियों को सजा देना
(स) शिकायतें सुनना
(द) संसद में प्रशासन को बचाना ( )

(4) प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण का सबसे कम प्रभावी साधन है ?
(अ) कार्यपालिका व्यवस्थापन (ब) बजटरी व्यवस्था
(स) अध्यादेश (द) लोकमत से अपील ( )

(5) निम्नलिखित में से कौनसा सही नहीं है ?
सार्वजनिक व्यय पर वित्त मंत्रालय इन चरणों में अपना नियंत्रण रखता है–
(अ) नीतियों व कार्यक्रमों का सैद्धान्तिक रूप से अनुमोदन
(ब) बजट अनुमान प्रावधानों की स्वीकृति
(स) प्रशासनिक मंत्रालयों को प्रत्यायोजित अधिकारों की शर्तों के अनुसार व्यय से पहले स्वीकृति देना
(द) आन्तरिक वित्त सलाहकार की नियुक्ति ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनैतिक कार्यपालिका से क्या तात्पर्य है ?
2. स्थाई कार्यपालिका से क्या आशय है ?
3. प्रत्यायोजित विधान किस को प्रदत्त किया गया है ?
4. अध्यादेश कब व कौन जारी करता है ?

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

पुनावलोकन

[SUPREME COURT : JURISDICTION—JUDICIAL REVIEW AND JUDICIAL ACTIVISM]

सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व

भारतीय राजव्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **संविधान का रक्षक**—भारत में एक लिखित और कठोर संविधान को अपनाया गया है और इसके साथ ही संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है। संविधान की सर्वोच्चता को बनाये रखने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के आधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। वह संसद द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के विरुद्ध हो। अपनी इस शक्ति के आधार पर वह संविधान की प्रभुता और सर्वोच्चता की रक्षा करता है। संविधान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर संविधान की अधिकारपूर्ण व्याख्या उसी के द्वारा की जाती है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय संविधान की रक्षा करता है।

(2) **संघात्मक व्यवस्था का रक्षक**—संविधान के द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है जिसके अन्तर्गत संविधान द्वारा ही संघीय और राज्य सरकार के बीच शक्ति विभाजन किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय इस शक्ति विभाजन की रक्षा करता है और संघीय या राज्य सरकारों को अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर कोई कार्य करने से रोक सकता है।

इसके अलावा संविधान द्वारा चाहे कितना ही अधिक स्पष्ट शक्ति विभाजन क्यों न किया जाय अनेक विषयों पर संघीय या राज्य सरकारों के बीच या राज्य सरकारों में ही परस्पर विवाद उत्पन्न हो सकता है, जिसका निबटारा एक सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जा सकता है।

(3) **मूल अधिकारों का रक्षक**—भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं और इन मूल अधिकारों की रक्षा भी सर्वोच्च न्यायालय ही करता है। यदि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या अन्य कोई सत्ता नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करती है, तो सर्वोच्च न्यायालय **बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण**, जब जैसी आवश्यकता हो, के आदेश जारी कर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है।

इस प्रकार संविधान के रक्षक, संघात्मक व्यवस्था के रक्षक और मूल अधिकारों के रक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है।

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

मूल रूप से सर्वोच्च न्यायालय के लिए मुख्य न्यायाधीश तथा 7 अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी थी और संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या, सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों का वेतन और सेवा शर्तें निश्चित करने का अधिकार संसद को दिया गया है। संसद के द्वारा समय-समय पर कानून में संशोधन कर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की गयी है।

【Recommend】Easily add text in PDF
Add

1960 में इसे 14, 1977 में 18 तथा 1985 में 26 (एक मुख्य न्यायाधीश तथा 25 अन्य न्यायाधीश) किया गया तथा 2007 ई. के अंत तक यही व्यवस्था रही। सर्वोच्च न्यायालय पर लगातार बढ़ते हुए मामलों के बोझ को देखते हुए संसद ने मार्च 2008 ई. में **'सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीशों की संख्या अधिनियम 1985'** को संशोधित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या 31 (एक मुख्य न्यायाधीश तथा 30 अन्य न्यायाधीश) कर दी है। इस प्रकार वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में 31 न्यायाधीश हैं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर भारत का मुख्य न्यायाधीश भारत के राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर **तदर्थ न्यायाधीशों** (Adhoc Judges) की नियुक्ति कर सकता है। इस प्रकार तदर्थ नियुक्तियां करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश को उच्च न्यायालय के उन मुख्य न्यायाधीशों की सलाह लेनी होगी जिनमें से न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाए। भारत में तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कनाडा में प्रचलित ऐसी ही प्रथा के समान है। सर्वोच्च या संघीय न्यायालय के पदनिवृत्त न्यायाधीश को राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त कर सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में 1978 में अपनाई गई सर्वमान्य परम्परा के आधार पर अब यह पूर्णतया निश्चित हो गया है कि राष्ट्रपति द्वारा इस न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जायेगा। विधि आयोग ने भी अपनी 80वीं रिपोर्ट में कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।[1] न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा और लोकतन्त्र के सुचारु संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रक्रिया—संविधान के **अनुच्छेद** 124 में व्यवस्था है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त इस न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श अवश्य ही लेगा। इस बात को लेकर विवाद था कि क्या राष्ट्रपति अकेले मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। इस विवाद के निराकरण हेतु राष्ट्रपति द्वारा जुलाई, 1998 में एक सन्दर्भ (Reference) सर्वोच्च न्यायालय को भेजा गया। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस सन्दर्भ पर 28 अक्टूबर, 1998 को दिए गये निर्णय के आधार पर अब सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है :

राष्ट्रपति द्वारा ये नियुक्तियां सर्वोच्च न्यायालय से प्राप्त परामर्श के आधार पर की जायेंगी। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश इस प्रसंग में राष्ट्रपति को परामर्श देने के पूर्व **'चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह'** से लिखित परामर्श प्राप्त करेंगे तथा इस परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है कि, "वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह को एक मत से और लिखित में सिफारिश करनी चाहिए। जब तक न्यायाधीशों के समूह की राय मुख्य न्यायाधीश के विचार से मेल नहीं खाए, तब तक मुख्य न्यायाधीश द्वारा राष्ट्रपति से कोई सिफारिश नहीं की जानी चाहिए।"[2]

सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया है कि, "**यदि भारत के मुख्य न्यायाधीश परामर्श की प्रक्रिया पूरी किये बिना न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिशें करते हैं तो सरकार ऐसी सिफारिशें मानने के लिए बाध्य नहीं है।**"

न्यायाधीशों की योग्यता—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्न योग्यताओं का होना आवश्यक है :

(1) वह भारत का नागरिक हो।

(2) वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार कम-से-कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो।

या

किसी उच्च न्यायालय अथवा न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

या

राष्ट्रपति के विचार में एक पारंगत विधिवेत्ता हो।

1 *The Times of India*, Jan. 30, 1980.
2 Supreme Court : Chief Justice must follow Constitutional Process. Hindustan Times, 19th October, 1998.

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

【Recommend】Easily add text in PDF

Add

यह अन्तिम उपबन्ध वस्तुतः चुनाव के क्षेत्र को व्यापक करने के लिए रखा गया है। इस उपबन्ध के अनुसार किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाला कोई विख्यात विधिवेत्ता सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकेगा।

कार्यकाल तथा महाभियोग—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवानिवृत्ति की आयु 65 वर्ष है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की भांति भारतीय संविधान में आजीवन कार्यकाल की व्यवस्था नहीं की गयी है, फिर भी वर्तमान व्यवस्था व्यवहारतः वैसी ही है, क्योंकि भारत में औसत आयु को देखते हुए 65 वर्ष की आयु बहुत होती है। इसके अतिरिक्त हमारे संविधान के अनुच्छेद 128 में किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को नियुक्त करने की भी विशेष व्यवस्था की गयी है। इस अवस्था के पूर्व वह स्वयं त्याग-पत्र दे सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से केवल प्रमाणित दुर्व्यवहार या असमता के आधार पर ही हटाया जा सकता है। इस प्रकार के **महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो भी हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग-अलग अपने सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पास करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा।** इसके बाद राष्ट्रपति उस न्यायाधीश की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव एक ही सत्र में स्वीकार होना चाहिए और न्यायाधीश को अपने पक्ष के समर्थन तथा उसकी पैरवी का पूरा अवसर प्रदान किया जायगा।

भारत में पहली बार 1992-93 में सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश जी. रामास्वामी के विरुद्ध संसद में महाभियोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, लेकिन संसद में जब इस प्रस्ताव पर विचार चल रहा था, तभी शासक दल के द्वारा प्रस्ताव वापस ले लिया गया। इस प्रकार भारत के संवैधानिक इतिहास में अब तक सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पारित नहीं किया गया है। 2011 ई. में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश (कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सौमित्र सेन) को महाभियोग के आधार पर उनके पद से हटाया गया।

वेतन, भत्ते और सेवा शर्तें—संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। न्यायाधीशों के वेतन-भत्ते, पेन्शन और ग्रेच्युटी (सेवा निवृत्ति राशि) आदि के सम्बन्ध में 1 जनवरी, 2006 ई. से आवश्यक सुधार (उल्लेखनीय वृद्धि) किये गये हैं।

वेतन के अतिरिक्त इन न्यायाधीशों को मासिक भत्ता, यात्रा भत्ता, निवास स्थान, स्टाफ कार, सीमित मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य कुछ सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं। न्यायाधीशों के लिए पेंशन व सेवा निवृत्ति वेतन (ग्रेच्युइटी) की व्यवस्था भी है। यह व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 ई. में की गई थी। न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन, भत्ते, आदि में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उन्हें वेतन व भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जायेंगे, जिस पर भारतीय संसद को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

उन्मुक्तियाँ—न्यायाधीशों को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने किसी प्रेरणा व हितवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया। संसद के द्वारा महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता है। न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह अपना सम्मान बनाये रखने और अशुतापूर्ण आलोचना से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी तथाकथित अपराधी के विरुद्ध न्यायालय अवमान की कार्यवाही कर सके। न्यायालय अवमान की कार्यवाही न केवल प्रतिष्ठा की रक्षा करने वरन् ऐसे किसी कार्य को रोकने के लिए भी की जा सकती है, जिसका इसकी निष्पक्ष निर्णय की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका हो। 'दीक्षित बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा ही निर्णय दिया था।[1]

1 All India Reporter 1954, Supreme Court, p. 743

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

अधिकार प्राप्त है कि वह अपना सम्मान बनाये रखने और शत्रुतापूर्ण आलोचना से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी तथाकथित अपराधी के विरुद्ध न्यायालय अवमान की कार्यवाही कर सके। न्यायालय अवमान की कार्यवाही न केवल प्रतिष्ठा की रक्षा करने वरन् ऐसे किसी कार्य को रोकने के लिए भी की जा सकती है, जिसका इसकी निष्पक्ष निर्णय की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका हो। 'दीक्षित बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा ही निर्णय दिया था।[1]

1. All India Reporter 1954, Supreme Court, p. 743.

सर्वोच्च न्यायालय का अवस्थापन

संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि वह स्वयं अपना अवस्थापन (Establishment) रखे और उन पर पूर्ण नियन्त्रण भी रखे। इस सम्बन्ध में संविधान-निर्माताओं का अभिमत यह था कि इस प्रकार की व्यवस्था न हो तो न्यायालय की स्वाधीनता केवल भ्रम ही सिद्ध होगी। सर्वोच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की सब नियुक्तियां मुख्य न्यायाधीश द्वारा या उसके द्वारा इस कार्य पर लगाये गये किसी अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी द्वारा की जाती हैं। इन पदाधिकारियों की सेवा शर्तें भी इस न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। उन पर होने वाला व्यय तथा न्यायालय के अवस्थापन के अन्य व्यय भारत की संचित निधि से किये जाते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि (Procedure of the Supreme Court)—सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध में संविधान ने कुछ व्यवस्थाएं की हैं। इसके अतिरिक्त संविधान ने भारतीय संसद को भी इस सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार प्रदान किया है तथा अन्य बातों पर सर्वोच्च न्यायालय स्वयं भी राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर नियम निर्मित करने की क्षमता रखता है। इसकी कार्यविधि के सम्बन्ध में संविधान द्वारा निम्न व्यवस्थाएं की गयी हैं :

(1) जिन विषयों का सम्बन्ध संविधान की व्याख्या से हो या जिनके अन्तर्गत संवैधानिक प्रश्न उपस्थित हो या जिनमें विधि के अभिप्राय को स्पष्ट करने की आवश्यकता हो या जिन विषयों पर विचार का कार्य भारत के राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा हो, उसकी सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय के कम-से-कम 5 न्यायाधीशों द्वारा की जायेगी।

(2) सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय खुले तौर पर किये जायेंगे।

(3) सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे। बहुमत के निर्णय से असहमत न्यायाधीश अपना पृथक् निर्णय दे सकता है। वह अन्य किसी प्रकार से बहुमत के निर्णय को प्रभावित नहीं कर सकेगा। बहुमत निर्णय ही मान्य होगा।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार
(JURISDICTION OF THE SUPREME COURT)

भारत के सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त है, यहां तक कि विश्व के अन्य किसी भी न्यायालय का क्षेत्राधिकार शायद ही इतना व्यापक हो। इसके क्षेत्राधिकार का अध्ययन निम्नलिखित तीन रूपों में किया जा सकता है : (1) **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**, (2) **अपीलीय क्षेत्राधिकार**, और (3) **परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार**।

(1) **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**—सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को दो वर्गों में रखा जा सकता है :

(क) **प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार**—दुर्गादास बसु का कहना है कि "**यद्यपि हमारा संविधान एक सन्धि या समझौते के रूप में नहीं है फिर भी संघ तथा राज्यों के बीच व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारों का विभाजन किया गया है। अतः अनुच्छेद 131 संघ तथा राज्यों या राज्यों के बीच न्यायिक विवादों के निर्णय का प्रारम्भिक तथा एकमेव क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपता है।**"[1] सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं :

(i) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(ii) भारत सरकार, राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद, जिसमें कोई ऐसा प्रश्न अन्तर्निहित हो जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो।

सर्वोच्च न्यायालय को केवल संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक विवादों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के विवाद केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही उपस्थित किये जा सकते हैं।

(ख) **समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**—संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 32(1) द्वारा विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय को उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह "**मौलिक अधिकारों को**

... of India, p. 223.

लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे।" इस प्रकार मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के भी द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

(2) **अपीलीय क्षेत्राधिकार**—सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ-साथ संविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) **संवैधानिक**—संविधान के **अनुच्छेद** 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है, यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है। '**निर्वाचन आयोग** बनाम **वेंकट राव**' (1953) वाले मुकदमे में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या किसी संवैधानिक विषय में अनुच्छेद 132 के अधीन किसी अकेले न्यायाधीश के निर्णय की अपील भी सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है अथवा नहीं। उच्च न्यायालय ने इसका उत्तर 'हां' में दिया। इसके फलस्वरूप यह न्यायालय संविधान का अन्तिम संरक्षक और व्याख्याकर्ता बन जाता है।

(ii) **दीवानी**—इस सम्बन्ध में मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1972 में हुए संविधान के **30वें संशोधन** द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसे ही दीवानी विवादों की अपील की जा सकती थी जिनमें विवादग्रस्त राशि 20 हजार रुपये से अधिक हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में **विधि आयोग** ने अपनी सिफारिश में कहा कि दीवानी विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील के सम्बन्ध में धनराशि की जो सीमा है, वह हटा दी जानी चाहिए। इस सिफारिश के अनुसार 30वां **संवैधानिक संशोधन** किया गया, जिसके द्वारा **अनुच्छेद** 133 को संशोधित करते हुए अब धनराशि की सीमा हटा दी गयी है और यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील की जा सकेगी जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि **इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।** 30वें संशोधन द्वारा की गयी यह व्यवस्था निश्चित रूप से उचित और तर्कपूर्ण है।

(iii) **फौजदारी**—फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील निम्न परिस्थितियों में सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है :

(क) यदि उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया हो।

(ख) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को प्राण-दण्ड दिया हो।

(ग) अगर उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है, तो अपील की जा सकती है।

(iv) **विशिष्ट** (Special Appeals)—यद्यपि संविधान के **अनुच्छेद** 132 से 134 में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की व्यवस्था की गयी है, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं, जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते, लेकिन जिनमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अतः **अनुच्छेद** 136 द्वारा साधारण कानून से भिन्न अपील सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार इस अध्याय के किसी भी उपबन्ध के होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्ड या आदेश करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विशिष्ट अपीलीय शक्ति

...से भिन्न अपील सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार इस अध्याय के किसी भी उपबन्ध के होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्ड या आदेश करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विशिष्ट अपीलीय शक्ति प्रदान की गयी है, उसके द्वारा इसका प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय को राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री सहित भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव-सम्बन्धी विवादों पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है।

विशेष अदालतों की व्यवस्था और विशेष अदालतों से सर्वोच्च न्यायालय में सीधे अपील की व्यवस्था—राष्ट्रपति ने 13 जुलाई, 1984 को 'आतंकवादी क्षेत्र' (विशेष अदालतें) अध्यादेश जारी कर केन्द्र सरकार को अधिकार दिया है कि वह देश (जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त भारतीय संघ के समस्त राज्य) के किसी भी भाग को 'आतंकवादी प्रभावित क्षेत्र' घोषित कर आतंकवादियों पर मुकदमे चलाने के लिए विशेष अदालतें स्थापित कर सकती है। विशेष अदालतें जघन्य अपराधों से सम्बन्धित खास-खास मुकदमों की सुनवाई करेंगी। इस अध्यादेश या कानून के अन्तर्गत गठित की जाने वाली अदालतों की अध्यक्षता सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा निर्दिष्ट जिला और सत्र न्यायाधीश करेंगे। इन अदालतों के फैसले के खिलाफ अपील सीधे सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी। उच्च न्यायालय संविधान के प्रावधानों के अनुसार विशेष अदालतों का अधीक्षण करेंगे।

अपीलीय क्षेत्राधिकार के दृष्टिकोण से भारत का सर्वोच्च न्यायालय विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली है। सम्भवतया सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को लक्ष्य करते हुए ही 28 **जनवरी**, 1950 को **सर्वोच्च न्यायालय** के उद्घाटन के अवसर पर भाषण देते हुए एम. सी. सीतलवाड ने कहा था कि "**इस न्यायालय के आदेश (Writs) बीस लाख वर्गमील के विस्तृत प्रदेश में लागू होंगे, जिसमें लगभग 30 करोड़ व्यक्ति (वर्तमान में एक अरब बाइस करोड़ से अधिक) निवास करते हैं। यह कहना सत्य होगा कि स्वरूप और विस्तार की दृष्टि से इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक हैं।**"

(3) **परामर्श क्षेत्राधिकार** (Advisory Jurisdiction)—संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। **अनुच्छेद** 143 के अनुसार यदि कभी राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का ऐसा कोई प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्व का है, तो वह उक्त प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श माँग सकता है। इस न्यायालय पर संवैधानिक दृष्टि से ऐसी बाध्यता नहीं है कि उसे परामर्श देना ही पड़ेगा।

अनुच्छेद 143 का खण्ड (2) राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह संविधान के लागू होने के पूर्व किसी सन्धि, समझौते, आदि के सम्बन्ध में उठे विवादों को उस न्यायालय के पास उसकी सम्मति जानने के लिए भेज सके। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 1947 और 1950 के बीच हुए भारत सरकार और देशी रियासतों के समझौते आते हैं। ऐसे विवादों में न्यायालय के लिए परामर्श देना अनिवार्य है और न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है। अब तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से केवल 10 बार परामर्श प्राप्त किया है, जिनमें '**केरल शिक्षा विधेयक**' (Kerala Education Bill), 1974 में राष्ट्रपति के चुनाव पर सर्वोच्च न्यायालय से माँगी गयी सम्मति, 1978 **में विशेष अदालत विधेयक** और 1991 में 'कावेरी जल विवाद' पर माँगी गयी सम्मति अधिक महत्वपूर्ण हैं। अन्तिम बार 2002 ई. में अनुच्छेद 174 (विधानसभा के दो सत्रों के बीच अधिकतम अवधि और चुनाव के प्रसंग में चुनाव आयोग के अधिकार और भूमिका) के सम्बन्ध में परामर्श प्राप्त किया गया है।

जनवरी '93 में राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँगा था कि 'विवादास्पद बाबरी मस्जिद के पूर्व उस पर कोई हिन्दू मन्दिर था या नहीं।' सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 24 अक्टूबर '94 के सर्वसम्मत ऐतिहासिक निर्णय में 'राष्ट्रपति द्वारा इस विषय में माँगे गये परामर्श का जवाब देने से इंकार कर दिया।' सर्वोच्च न्यायालय ने कहा "इस प्रश्न का कानून या संविधान से कुछ लेना देना नहीं है, वरन् इसका सम्बन्ध पूरी तरह तथ्यों से है।" न्यायालय ने यह भी कहा, 'राय माँगे' जाने से किसी संवैधानिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।'[1] इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो गया है **किसी विशेष मामले में सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने से इंकार भी कर सकता है।**

"**सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होता है।**"[2] लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा सलाहकारी भूमिका अदा करना पसन्द नहीं किया गया है। इस **सम्बन्ध में भारत की व्यवस्था ब्रिटेन और कनाडा आदि देशों के अनुरूप है।**

1. *The Hindustan Times*, 25 October, 1994.

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में निरन्तर वृद्धि : अन्तर्निहित और असाधारण क्षेत्राधिकार का प्रतिपादन
(CONCEPT OF INHERENT AND EXTRA-ORDINARY JURISDICTION)

1980-2014 ई. के वर्षों में जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता की धारणा के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय और न्यायपालिका ने अपने क्षेत्राधिकार में निरन्तर वृद्धि की है। 2005-06 के वर्षों में विशेष रूप से ऐसी स्थितियां बनी हैं। उ. प्र. के पूर्व मुख्यमंत्री यादव के पुत्र 'अखिलेश यादव की सम्पत्ति विवाद' के प्रसंग में जब सर्वोच्च न्यायालय ने **'सी.बी.आई जांच'** (CBI Inquiry) का आदेश दिया, तब यादव के वकील हरीश साल्वे ने आपत्ति करते हुए कहा कि 'सी.बी.आई. की जांच के प्रस्ताव पर राज्य सरकार की अनुमति होनी चाहिए; तब सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, 'सर्वोच्च न्यायालय को अपनी ओर से इस प्रकार की जांच का आदेश देने का अधिकार प्राप्त है, तथा इस प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय ने **'अन्तर्निहित और असाधारण क्षेत्राधिकार'** की धारणा का प्रतिपादन किया।

सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निम्नलिखित अन्य रूपों में भी कार्य किया जाता है :

(1) **अभिलेख न्यायालय** (Court of Record)—अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय हैं :

(i) इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किये जायेंगे और उन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

(ii) इस न्यायालय के द्वारा **'न्यायालय अवमान'** (Contempt of Court) के लिए दण्ड दिया जा सकता है। वैसे तो यह बात प्रथम स्थिति में स्वतः ही मान्य हो जाती है, लेकिन भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को उसका अवमान करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था विशिष्ट रूप से कर दी गयी है। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, **"अभिलेख न्यायालय वह न्यायालय होता है, जिसके अभिलेखों का साक्ष्य की दृष्टि से मूल्य हो और जब उन्हें किसी न्यायालय में पेश किया जाय तो उन पर कोई सन्देह या ऐतराज न किया जा सके। सच तो यह है कि अवमान के लिए दण्ड दे सकने की शक्ति तो इस स्थिति का एक आवश्यक परिणाम है ....।"**

(2) **मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक** (Guardian of Fundamental Rights)—भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। **अनुच्छेद** 32(1) ने सर्वोच्च न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराया है कि वह **"मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे।"** न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए **बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकारपृच्छा और उत्प्रेषण** के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण होने पर वह सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के प्रति सदैव सजग रहा है तथा इस कार्य में वह सफल भी रहा है।

जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता (Public Interest Litigations and Judicial Activism)

1980 के बाद से ही और विशेषतया 1993-2014 ई. के वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता के आधार पर समस्त राजनीतिक व्यवस्था में पहले से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली है। अपनी इस भूमिका के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने विभिन्न सरकारी एजेन्सियों को अपना कार्य ठीक ढंग से करने के लिए निर्देश दिये हैं और इस बात का प्रतिपादन किया है कि **'व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो, कानून उससे ऊपर है'** तथा सरकारी एजेन्सी को अपना कार्य निष्पक्षता के साथ करना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने तो 1996 में प्रधानमन्त्री को भी निर्देश दिया कि वे कर्नाटक तथा तमिलनाडु के बीच 'कावेरी जल विवाद' को हल करने के लिए प्रयत्न करें। उच्च न्यायालयों द्वारा अपनाई गई न्यायिक सक्रियता की इस स्थिति की कुछ पक्षों द्वारा आलोचना की गई है, लेकिन इस प्रसंग में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विधायिका और कार्यपालिका अपने दायित्वों को पूरा

कार्यों में असफल रहे और इसी कारण न्यायपालिका को न्यायिक सक्रियता की स्थिति अपनानी पड़ी। इस प्रसंग में एक विशेष बात यह है कि न्यायिक सक्रियता ने सामान्य व्यक्तियों के मन-मस्तिष्क में राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास बनाये रखने में योगदान किया है। 'न्यायिक सक्रियता' की इस स्थिति और धारणा को 'संविधान की रचनात्मक व्याख्या' करते हुए अपनाया गया है।

इन सबके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति या संविधान के संरक्षण की शक्ति प्राप्त है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of Judiciary)

एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकती है। अतः भारतीय संविधान द्वारा न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गयी हैं :

(1) **न्यायाधीशों की नियुक्ति**—संविधान के द्वारा सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है जो मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों से परामर्श प्राप्त करते हुए न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय ने अक्टूबर 1998 के निर्णय के आधार पर व्यवस्था कर दी है कि अब इस प्रसंग में सरकार या भारत के मुख्य न्यायाधीश, किसी के भी द्वारा मनमाना आचरण नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में इसे निश्चित रूप से श्रेष्ठ प्रक्रिया और श्रेष्ठ स्थिति कहा जा सकता है।

(2) **कार्यकाल और कार्यकाल की सुरक्षा**—भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। उन्हें साधारणतया पदच्युत नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को केवल सिद्ध कदाचार अथवा अक्षमता के आधार पर हटा सकता है, लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जब इस हेतु संसद के प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा जाय। पदच्युति की इस प्रक्रिया को व्यवहार में अपनाया जाना अत्यधिक कठिन होता है।

(3) **वेतन पर्याप्त और संसदीय नियन्त्रण से परे**—न्यायाधीशों को उनकी प्रतिष्ठा तथा स्थिति को बनाये रखने के लिए पर्याप्त वेतन दिया जाता है व उन्हें अन्य भत्ते और सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। संविधान में यह भी उपबन्धित है कि वित्तीय आपात को छोड़कर अन्य किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन व भत्तों में कमी नहीं की जायेगी। सर्वोच्च न्यायालय को संसद के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रखने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि उच्चतम न्यायालय के सभी व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

(4) **कार्य-प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति**—सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्य-प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार है, लेकिन नियम संसद द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत होंगे तथा इन पर राष्ट्रपति का अनुमोदन आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त, इसके निर्णय या आदेश भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायाधीशों को मान्य होंगे।

(5) **कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण**—न्यायालय को कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण के अभाव में उसकी स्वतन्त्रता को आघात पहुंच सकता है। अतः सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। न्यायालय के सभी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। सेवा शर्तें भी न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं।

(6) **उन्मुक्तियां**—आधिकारिक क्षमता में किये गये न्यायालयों के निर्णय तथा कार्य आलोचना से परे हैं। संसद भी न्यायाधीशों के किन्हीं भी ऐसे कार्यों पर, जिसे उन्होंने कर्तव्यपालन करते हुए किया है, विचार-विमर्श नहीं कर सकती।

(7) **अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध**—संविधान सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकारी के समक्ष वकालत करने से मना करता है, लेकिन संविधान विशेष प्रकार के कार्य के सम्पादन के लिए इनकी नियुक्ति की अनुमति देता है। उदाहरणार्थ, विशेष जांच-पड़ताल तथा अन्वेषण करना।

1973 और 1977 में जिस प्रकार क्रमशः श्री ए. एन. रे तथा श्री एम. एच. बेग को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया, वह सर्वोच्च न्यायालय और समस्त न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को आघात

11:06
44

... नियुक्त किया गया, ...

पहुँचाने वाला था, लेकिन 1978 में इस सम्बन्ध में पुनः वरिष्ठता के सिद्धान्त को अपना लिया गया और [illegible] ई. तक इसका निरन्तर पालन किया जाता रहा है। न्यायालय की स्वतन्त्रता के लिए ऐसा किया जाना आवश्यक है।

न्यायाधीशों के लिए आचार-संहिता : न्यायिक जीवन के मूल्यों का पुनर्कथन—लगभग तीन दशक से यह बात सोची जा रही है कि न्यायाधीशों के लिए भी आचार-संहिता होनी चाहिए। अतः 6 **दिस., 1999** को भारत के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में सम्पन्न 'मुख्य न्यायाधीशों के वार्षिक सम्मेलन' में एक '15 **सूत्रीय आचार संहिता**' अपनाई गई है।

आचार संहिता की कुछ प्रमुख बातें हैं—प्रत्येक न्यायाधीश के लिए पद ग्रहण के बाद एक निश्चित समय के भीतर सम्बन्धित मुख्य न्यायाधीश के समक्ष अपनी उस सम्पदा और निवेश को अनिवार्य रूप से घोषित करना होगा, जो उसके अथवा पत्नी या आश्रित सन्तानों के नाम से है। मुख्य न्यायाधीश भी [illegible] के लिए इसी प्रकार की घोषणा करेंगे। न्यायाधीश अपने पारिवारिक सदस्यों को अपने न्यायालयों में वकालत करने की अनुमति नहीं देंगे, अपने न्यायालय में वकालत करने वाले वकीलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखेंगे आदि। आचार संहिता का उद्देश्य है, न्यायाधीशों को इस बात के लिए सचेत करना कि वे सदैव जनता की निगाह में हैं, अतः उसके द्वारा न तो ऐसा कोई कार्य किया जाना चाहिए और न ही ऐसी कोई [illegible] कही जानी चाहिए, जो उसके पद की मर्यादा के अनुकूल न हो। **मुख्य न्यायाधीश आदर्श सेन आनन्द** ने इस अवसर पर कहा था, **"लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है, अतः सार्वजनिक पद ग्रहण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।"**

न्यायिक पुनर्विलोकन या संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय (Judicial Review or Supreme Court as Guardian of the Constitution)

न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य (Meaning of the Judicial Review)—**न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान तथा उसकी सर्वोच्चता की रक्षा करने की व्यवस्था से है।** यदि संघीय या राज्य विधानमण्डलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है, अपनी निश्चित सीमाओं के बाहर कानूनों का निर्माण किया जाता है या मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कानूनों का निर्माण किया जाता है, तो संघीय संसद या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि अथवा संघीय या राज्य प्रशासन द्वारा किये गये ऐसे प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहा जाता है। राज्यों के सम्बन्धों में इस शक्ति का प्रयोग सम्बन्धित उच्च न्यायालय के द्वारा किया जा सकता है।

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार

संविधान दो में से किसी एक सिद्धान्त पर आधारित हो सकते हैं, **प्रथमतः**, व्यवस्थापिका अर्थात् कानून निर्माण करने वाले अंग की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर और **द्वितीयतः**, संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर। ब्रिटेन में व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता अर्थात् संसद की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, लेकिन अमेरिका में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान अमेरिकी संविधान के ही अधिक निकट है।

भारतीय संविधान के उपबन्धों में कहीं भी विशेष रूप से संविधान की सर्वोच्चता का उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन ऐसा होते हुए भी यह विधान '**संविधान की सर्वोच्चता**' के सिद्धान्त पर आधारित है। वस्तुतः संविधान निर्माताओं ने 'संविधान की सर्वोच्चता' की घोषणा करना अनावश्यक समझा, क्योंकि भारतीय शासन-व्यवस्था में शासन के अंग अपनी शक्ति संविधान से ही प्राप्त करते हैं, संविधान ने शासन के प्रत्येक अंग के लिए कुछ सीमा निश्चित कर दी है और शासन के इन अंगों की शक्तियों को तब तक नहीं बदला जा सकता है जब तक कि संविधान में बतायी गयी संशोधन प्रक्रिया के आधार पर संविधान के तत्सम्बन्धी उपबन्धों को परिवर्तित न कर दिया जाय। ऐसी स्थिति में, न्यायालय को स्वाभाविक रूप से संवैधानिक सीमाओं की रक्षा करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। डॉ. एम. जी. गुप्ता के अनुसार, "**विधानमण्डल ने जिन कानूनों का निर्माण अपनी विधि-निर्माण की शक्तियों का उल्लंघन करके किया है, उन्हें अवैध घोषित करने की न्यायालयों**

... **की शक्ति ऐसे किसी भी विधान में अन्तर्निहित होती है, जिसमें सीमित शक्तियों वाले शासन की व्यवस्था की गयी** ... क्योंकि इसने एक संघीय शासन को अपनाया है और शासन के केन्द्रीय तथा राज्यीय दोनों ही अंगों ... सीमाएं निश्चित कर दी हैं, अतः ...

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

की शक्ति ऐसे किसी भी विधान में अन्तर्निहित होती है, जिसमें सीमित शक्तियों वाले शासन की व्यवस्था की गयी है। क्योंकि हमने एक संघीय शासन को अपनाया है और शासन के केन्द्रीय तथा राज्यीय दोनों ही अंगों की संवैधानिक मर्यादाएं निश्चित कर दी हैं, अतः यह तय करना न्यायालयों का काम है कि किन्हीं संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ है अथवा नहीं। इस प्रकार भारत के सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है। न्यायमूर्ति बी. के. मुकर्जी के शब्दों में, "भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और संसद तथा राज्यों के विधानमण्डलों को न केवल संविधान में सातवीं अनुसूची में दी गयी सूचियों द्वारा सीमांकित अपने-अपने क्षेत्रों के अन्दर रहकर काम करना होगा, अपितु संविधान के भाग 3 में नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकारों की गारण्टी दी गयी है, विधायी सत्ता जिनका उल्लंघन किसी भी दशा में नहीं कर सकती। किसी अधिनियम के वैध होने के लिए आवश्यक है कि यह सब मामलों में संवैधानिक शर्तों के अनुरूप हो और यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक अधिनियम असंवैधानिक है अथवा नहीं।"

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का तात्पर्य है : कानूनों की वैधानिकता के परीक्षण की शक्ति—अनुच्छेद 131 और 132 सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार देते हैं। इसी प्रकार संविधान के **अनुच्छेद** 13 और 32 मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को इसी प्रकार की शक्ति प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में **अनुच्छेद** 246 का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिसके द्वारा केन्द्र और राज्यों के मध्य विधि निर्माण की शक्तियों के विभाजन का स्वरूप निश्चित किया गया है। इस प्रकार भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गयी है और न्यायिक पुनर्विलोकन के दो शक्तिशाली आधार **संघात्मक व्यवस्था और मौलिक अधिकार** हैं।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन : प्रकृति और सीमाएं

यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है फिर भी भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है जितना कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में है। वस्तुतः ऐसे कुछ कारण हैं, जिन्होंने भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था को संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में सीमित कर दिया है। **सर्वप्रथम**, अमरीकी संविधान अत्यधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्तता के कारण संघीय शासन और इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न होते रहते हैं और इसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इस बात के कारण अपेक्षाकृत सीमित है कि भारत के संविधान में संघ और राज्यों के मध्य कानून निर्माण की शक्तियों का विभाजन पर्याप्त विस्तार के साथ कर दिया गया है। संघ और राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति को कम से कम करने के लिए एक समवर्ती सूची की भी व्यवस्था की गयी है, जिसके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्र को प्राप्त है। इन विस्तृत उपबन्धों के कारण मुकदमेबाजी और दूसरे शब्दों में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

द्वितीय, अमरीका का अधिकार-पत्र निरपेक्ष (absolute) शब्दावली में लिखा गया है, लेकिन मानवीय अधिकारों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। अतः इन अधिकारों के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए 'पुलिस शक्ति' (Police power) और '**सामान्य कल्याण**' (General welfare) जैसे शब्दों का आश्रय लिया गया। अमरीका में कार्यपालिका 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' के आधार पर अधिकारों की सीमा निश्चित कर सकती है और सर्वोच्च न्यायालय इस बात की जांच करता है कि कार्यपालिका ने अपनी शक्ति का प्रयोग उचित रूप में किया है अथवा नहीं। इस प्रकार अमरीकी संविधान के 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' जैसे शब्दों ने सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बहुत व्यापक कर दिया है, लेकिन भारतीय संविधान निर्माता भारत में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने देना चाहते थे। इसलिए भारत में प्रत्येक मौलिक अधिकार के साथ-साथ उसकी सीमाएं संविधान में ही निश्चित कर दी गयी हैं और इस कारण न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

उपर्युक्त कारण अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं और इस सम्बन्ध में **सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर इन दोनों देशों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में ही निहित है।** अमरीकी संविधान में '**कानून की उचित प्रक्रिया**' (Due Process of Law) शब्दावली को अपनाया गया है, लेकिन भारतीय संविधान में अमरीकी संविधान की शब्दावली के

1. M. G. Gupta, *Aspects of Indian Constitution*, p. 240.

11:06
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

...शब्दावली को अपनाया गया है, लेकिन भारतीय संविधान...

1. M. G. Gupta, *Aspects of Indian Constitution*, p. 240.

स्थान पर जापानी संविधान की शब्दावली **'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया'** (Procedure Established by Law) को अपनाया गया है। संविधान में की गयी इस व्यवस्था के आधार पर अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जांच दो बातों के आधार पर कर सकता है : (i) संघ या राज्य, जिसके भी विधानमण्डल ने उस कानून को बनाया है, उसके द्वारा इसका निर्माण उसकी कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत था या नहीं, (ii) या 'कानून की उचित प्रक्रिया' की शर्तों को पूरा करता है अथवा नहीं। इस प्रकार यदि विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून पूर्णतया उसकी शक्तियों के अन्तर्गत हो, तो भी यदि वह 'कानून की उचित प्रक्रिया' के अर्थात् प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो तो उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है, लेकिन भारतीय संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' की शब्दावली के स्थान पर **'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया'** की जापानी शब्दावली को अपनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघीय या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून को अवैधानिक तभी घोषित कर सकता है, जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में संविधान द्वारा प्रदान की गई अपनी कानून निर्माण की क्षमता का उल्लंघन किया हो। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय यह निश्चित करने में कि अमुक कानून संवैधानिक है या नहीं, प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का या उचित-अनुचित की अपनी धारणाओं को लागू नहीं कर सकता। यदि हमारे संघ या राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून ऐसा है, जिसका निर्माण करने में वह सक्षम है, तो उसकी संवैधानिकता को चुनौती देना भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के बाहर की बात है। **एलेक्जेण्ड्रोविच** के शब्दों में, ''**भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की कल्पना एक अतिरिक्त विधान-निर्माता के रूप में नहीं की गयी, अपितु एक ऐसे निकाय के रूप में की गयी है, जिसे अभिव्यक्त कानून को लागू करना है।**''

भारत में सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति के सम्बन्ध में दुर्गादास बसु लिखते हैं, ''न्यायिक सर्वोच्चता के स्थान पर हमारे संविधान में संवैधानिक सीमाओं के साथ विधायी सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ऐसे नियम को रद्द कर देगा, जो संविधान की सीमाओं के प्रतिकूल है, लेकिन इसके द्वारा प्राकृतिक न्याय की धारणा या संविधान के आदर्शों के आधार पर व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों को रद्द या संशोधित नहीं किया जा सकता। भारत में न्यायपालिका की स्थिति इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच में ही है।''[1]

अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय उसकी कानून की उचित प्रक्रिया वाली धारा के आधार पर लगभग एक **'तीसरा सदन'** या **'उच्च विधानमण्डल'** (Super Legislature) बन गया है और न्यायाधीश **ह्यूज** (Hughes) ठीक रूप में ही कहते हैं कि ''**हम एक संविधान के अन्तर्गत तो रहते हैं, लेकिन संविधान वैसा ही है जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय कहता है।**'' लेकिन हमारे देश में सर्वोच्च न्यायालय को निश्चित रूप में ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं है। अमरीका में जहां न्यायिक सर्वोच्चता को अपनाया गया है, भारत में न्यायिक सर्वोच्चता और विधायी सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना

यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग का अध्ययन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्वक ही किया है, लेकिन कुछ निर्णयों में, विशेषतया 1967 में गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में ऐसी कुछ प्रवृत्तियां देखी गयी हैं, जिन्होंने उसे आलोचना का पात्र बना दिया है। इस प्रकार की आलोचना के प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं :

(1) **अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य**—इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक व्यक्ति स्वातन्त्र्य और नागरिक अधिकारों के रक्षक के रूप में कार्य किया है, लेकिन यह भी तथ्य है कि सम्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नों पर इसने एक अनुदारवादी न्यायालय और अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य किया। 1950-51 में इसने जमींदारी और जागीरदारी उन्मूलन के अन्तर्गत पारित कुछ भूमि सुधार कानूनों को अवैध घोषित किया; 1953 में, **'शोलापुर स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी'** के शासन द्वारा अधिग्रहण को अवैध ठहराया और **'कुन्हीकोमान बनाम केरल राज्य'** में, केरल कृषि सम्बन्धी अधिनियम को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय

1. D. D. Basu, *Commentary on the Indian Constitution*, pp. 404-405.

...अनुदारवादिता का सर्वाधिक परिचय 1967 के **'गोलकनाथ विवाद'** में 6-5 के बहुमत से यह निर्णय देकर दिया कि ''**संसद ऐसा कोई अधिनियम पारित नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या सीमित करता हो।**'' इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और...

...पुर स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी' के शासन द्वारा अधिग्रहण को अवैध ठहराया और कुन्हीकोमान बनाम केरल राज्य' में, केरल कृषि सम्बन्धी अधिनियम को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय

1 D. D. Basu, *Commentary on the Indian Constitution*, pp. 404-405.

ने अपनी अनुदारवादिता का सर्वाधिक परिचय 1967 के **'गोलकनाथ विवाद'** में 6-5 के बहुमत से यह निर्णय देकर दिया कि **"संसद ऐसा कोई अधिनियम पारित नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या सीमित करता हो।"** इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और प्रिवीपर्स के अन्त सम्बन्धी आदेशों को अवैध घोषित किया।

एक जनकल्याणकारी राज्य में न्यायपालिका से यह आशा की जाती है कि वह राज्य को जनकल्याण की दिशा में आगे बढ़ाने में सहायक होगी, लेकिन भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कुछ निर्णयों के आधार पर इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनने के बजाय बाधक होने का ही कार्य किया है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रदर्शित इस अनुदारवादिता के कारण ही समय-समय पर सर्वोच्च न्यायालय को पुनर्गठित करने और इसके अधिकारों को सीमित करने की मांग की जाती रही है।

(2) **सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन**—सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग पर एक प्रमुख आपत्ति यह की जाती है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों में अनवरत परिवर्तन करता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप संवैधानिक कानून की समस्त व्यवस्थाओं के प्रति भ्रान्तियां उत्पन्न हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय को वैधानिक दृष्टि से यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर उनमें परिवर्तन कर सकें और **न्यायमूर्ति हेगड़े इसे 'न्यायिक पुनर्विलोकन' का अनिवार्य अंग मानते हैं।**[1] लेकिन 1967-71 के काल में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णयों को जिस प्रकार से परिवर्तित किया है, उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

मोहनकुमार मंगलम ने अपनी पुस्तक में इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन उदाहरण दिये हैं :

प्रथम, 1952 में शंकरी प्रसाद और 1965 में सज्जनसिंह के मामले में, प्रथम में सर्वसम्मत और द्वितीय में बहुमत निर्णय से, सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात को स्वीकार किया कि संसद मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है, यदि इस सम्बन्ध में निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जाय, लेकिन 1967 के 'गोलकनाथ विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "संसद को संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध को इस तरह से संशोधित करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा, जिससे कि मौलिक अधिकार छिन जायें या सीमित हो जायें।"

द्वितीय, 1969 के **'गुजरात राज्य बनाम शान्तिलाल मंगलदास'** के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संविधान के चतुर्थ संशोधन के बाद क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता या अपर्याप्तता पर विचार करना न्यायालय के क्षेत्राधिकार के बाहर है, लेकिन जब 1969 में ही **'बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम'** को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी, तो सर्वोच्च न्यायालय ने इसे इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि इसमें निहित क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त अप्रासंगिक हैं।

तृतीय, 1965 के **'उस्मान अली खान बनाम सागरमल'** के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय और प्रिवीपर्स, आदि से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था राजनीतिक है, न कि वैधानिक और इससे सम्बन्धित दायित्वों को न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, लेकिन 1971 में जब प्रिवीपर्स की समाप्ति और नरेशों की मान्यता वापस लेने से सम्बन्धित आदेशों को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी तो सर्वोच्च न्यायालय ने शासन के आदेश को अवैध घोषित कर दिया।

मोहनकुमार मंगलम निष्कर्ष रूप में लिखते हैं : **"सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने निर्णयों में अनवरत परिवर्तन ने कानून की अनिश्चित अवस्था को जन्म दिया है और इससे अधिक हानिप्रद और कुछ नहीं हो सकता कि देश का कानून ही अनिश्चित हो।"**

(3) **संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण**—सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 1967-71 के काल में जिस प्रकार से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया, उससे यह नितान्त स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भारतीय राज-व्यवस्था में वह भूमिका अदा करने की चेष्टा की जो संविधान-निर्माता उसे नहीं देना चाहते थे। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाते हुए भी उसकी सीमाएं निर्धारित की गयी हैं और भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन उस विस्तार तक नहीं

1 "It has worked as a conservative court when question of property came before it for decision."
—T. K. Tope, *The Constitution of India* (1971), p. 309.

11:06
44

(3) संवैधानिक सीमाओं का ...

से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया, उससे यह नितान्त ... ने अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भारतीय राज-व्यवस्था में वह भूमिका अदा करने की चेष्टा की जो संविधान-निर्माता उसे नहीं देना चाहते थे। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाते हुए भी उसकी सीमाएं निर्धारित की गयी हैं और भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन उस विस्तार तक नहीं

1 "It has worked as a conservative court when question of property came before it for decision."
—T. K. Tope, *The Constitution of India* (1971), p. 309.

है, जिस विस्तार तक यह व्यवस्था अमरीका में है। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाएं स्पष्ट करते हुए पं. नेहरू ने संविधान सभा में कहा था :

"इन सीमाओं के भीतर कोई भी न्यायाधीश या सर्वोच्च न्यायालय अपने आपको विधानमण्डल का तृतीय सदन नहीं बना सकता है। कोई भी सर्वोच्च न्यायालय या न्यायपालिका सम्पूर्ण जनता की प्रतिनिधि संसद की इच्छाओं का विरोध नहीं कर सकती। यदि हम यहां-वहां कोई त्रुटि करते हैं, तो वह हमें हमारी त्रुटि बता सकती है, लेकिन अन्तिम रूप में जहां तक समुदाय के भविष्य का सम्बन्ध है, कोई न्यायपालिका इसमें बाधक नहीं हो सकती है।"

न्यायालय भी सामान्यतया अपनी इन सीमाओं को स्वीकार करता है। स्वयं न्यायमूर्ति एस. आर. दास के शब्दों में, "न्यायालय संविधान का विश्लेषण एवं व्याख्या कर सकता है तथा उसके वास्तविक अर्थ का पता लगा सकता है, परन्तु एक बार इस कार्य को सम्पन्न करने के बाद वह उसकी बुद्धिमत्ता या नीति को चुनौती नहीं दे सकता। संविधान सर्वोच्च है। न्यायालय के द्वारा संविधान को उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, जैसा कि वह है, चाहे वह उसके आदर्श संविधान के पूर्वाग्रहों से मेल न खाता हो।"

लेकिन 1967 के गोलकनाथ विवाद और तदुपरान्त दिये गये कुछ निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति पर संविधान द्वारा लगायी गयी सीमाओं का अतिक्रमण किया है।

(4) **सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता**—न्यायिक पुनर्विलोकन के कारण सदैव ही इस बात का भय रहता है कि संसद द्वारा निर्मित कानून और शासन द्वारा अपनायी गयी नीति न्यायपालिका द्वारा सदैव अवैध घोषित की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता का वातावरण बना रहता है जो कि निश्चित रूप में समस्त व्यवस्था के लिए बहुत अधिक हानिकारक है। न्यायिक पुनर्विलोकन के आलोचकों का कथन है कि न्यायपालिका के द्वारा अपने आपको कानूनी प्रश्नों तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। भूतपूर्व विधिमन्त्री **गोखले** के अनुसार, "न्यायालय कानूनी मामलों पर ही अपना फैसला दे सकते हैं, राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों पर उन्हें निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है।"[1]

(5) **संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति को जन्म**—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के कारण जब संसद द्वारा निर्मित कानूनों को न्यायपालिका के द्वारा अवैधानिक घोषित कर दिया जाता है तो संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होती है और जब राज-व्यवस्था के दो प्रमुख अंगों के बीच ऐसी स्थिति हो, तो शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व—न्यायिक पुनर्विलोकन की उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था भारतीय लोकतन्त्र के लिए नितान्त आवश्यक और भारत की समस्त राज-व्यवस्था के लिए अत्यधिक हितकर है। **प्रथम**, संविधान द्वारा संघीय व राज्य-सरकारों के बीच जो शक्ति-विभाजन किया गया है, न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही उसकी रक्षा सम्भव है। **द्वितीय**, शासन की शक्ति पर अंकुश रखने तथा नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने का कार्य भी न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही किया जा सकता है। **तृतीय**, न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था संविधान के सन्तुलन चक्र का कार्य करती है और न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय संविधान के अधिकारी व्याख्याता तथा रक्षक के रूप में कार्य कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में की गयी कुछ आलोचनाएं नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। **तथ्यों से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुदारवादी या प्रगतिविरोधी शक्ति के रूप में कार्य किया है।** कुलदीप नैयर ने अपने एक लेख में नितान्त सही रूप में लिखा है कि '**न्यायालय से न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार छीना जाना लोकतन्त्र के हित में नहीं होगा।**'

न्यायिक पुनर्विलोकन शासन की शक्ति को मर्यादित रखने का एक प्रमुख साधन है। सर्वोच्च न्यायालय की सात सदस्यीय संविधान पीठ ने 1977 में अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है : "न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का एक मूलभूत लक्षण है। संसद संवैधानिक संशोधन के आधार पर भी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित नहीं कर सकती।"[2]

1 *The Times of India*, 1 Sep., 1971.
2 "Power of Judicial Review ...

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

...उनके सामने जो विवाद प्रस्तुत हों, उन विवादों का विद्यमान कानूनों के अनुसार निपटारा करना। इस धारणा की कुछ मूलभूत मान्यताएं हैं : **प्रथम**, पीड़ित पक्ष स्वयं न्यायालय के सम्मुख जाकर न्याय की याचना करें। **द्वितीय**, न्यायालय के द्वारा स्वयं को कानून की वैधानिक व्याख्या तथा सम्पूर्ण विवाद के प्रसंग में वैधानिक दायरे तथा दृष्टिकोण तक सीमित रखा जाना चाहिए। यह धारणा इस विचार पर आधारित है कि आर्थिक-सामाजिक न्याय का दायित्व जन प्रतिनिधियों की संस्था संसद का है और आर्थिक-सामाजिक न्याय सामान्यतया न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में नहीं आता है।

न्यायिक सक्रियता का उदय और विकास (न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही विस्तार है)—भारतीय संविधान द्वारा भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना की गई है तथा संविधान संविधानवादी शासन में विश्वास करता है। संविधानवादी शासन की मूल मान्यता यह है कि शासन को मर्यादित शक्तियां ही प्राप्त होनी चाहिये। संविधानवादी शासन की इस धारणा के अनुरूप ही भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गई है। न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर न्यायपालिका ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकती है जो संविधान का उल्लंघन करता है। कालान्तर में न्यायपालिका ने यह अनुभव किया कि उसे यह शक्ति भी प्राप्त होनी चाहिये कि यदि कार्यपालिका अकर्मण्यता के कारण अपने कर्तव्यों की अनदेखी करे अथवा यह मनमाना आचरण करने की प्रवृत्ति को अपनावे तो न्यायपालिका उसे कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दे अथवा मनमाना आचरण करने की स्थिति में उसे ऐसा करने से रोक दे। इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन व्यवस्थापिका के मनमाने कानून निर्माण पर रोक लगाने का साधन है तो **न्यायिक सक्रियता कार्यपालिका को कर्तव्य पालन की दिशा में प्रवृत्त करने या मनमाना आचरण करने से रोकने का साधन है।** न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन से आगे का एक चरण है, एक ऐसा चरण जिसे व्यवस्था में निहित गतिशीलता, शासन की कमजोरियों एवं दोषों तथा बदलती हुई परिस्थितियों ने जन्म दिया है। न्यायिक सक्रियता की स्थिति को न्यायपालिका द्वारा उसी देश में अपनाया जा सकता है, जिस देश में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था है। पिछले पांच दशक में अमरीकी न्यायपालिका ने भी कुछ सीमा तक न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाया है। इस प्रकार न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन से आगे का चरण है तथा यह कथन सत्य है कि '**न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही विस्तार है**' (Judicial Activisim is only an extension of the power of Judicial Review)।

संविधान लागू किये जाने के बाद लगभग तीन दशक तक न्याय की परम्परागत धारणा को स्वीकार किया जाता रहा, लेकिन गतिशीलता राज-व्यवस्था का प्राण है। राज-व्यवस्था का प्रत्येक तत्व, प्रत्येक अंग और प्रत्येक संस्था स्वयं में गतिशीलता लिये हुए होती है। 1970 के बाद से ही निरन्तर ऐसी स्थितियां बनीं जिनके आधार पर न्यायाधीशों और समस्त न्याय-व्यवस्था से जुड़ा वर्ग यह सोचने के लिए प्रेरित हुआ कि कानून और संविधान के शब्दों की तुलना में संविधान की भावना और आत्मा को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए और संविधान की आत्मा की रक्षा करने के लिए आवश्यक होने पर तंग कानूनी प्रक्रियाओं के दायरे से बाहर निकलकर **संविधान की रचनात्मक व्याख्या** का मार्ग अपनाया जाना चाहिए।

न्यायिक सक्रियता की धारणा के उदय और विकास में सहायक तत्व (प्रेरक तत्व)

न्यायिक सक्रियता की धारणा के उदय में प्रमुख रूप से इन स्थितियों का योग रहा है :

(1) **अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा शुरू किये गये जनहित अभियोग**—अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसे जनहित अभियोगों की शुरुआत की थी, जिनमें पीड़ित पक्ष की कमजोर स्थिति को दृष्टि में रखते हुए पीड़ित पक्ष (एक व्यक्ति या वर्ग) की ओर से किसी अन्य व्यक्ति ने न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की और न्यायालय ने उसे विचार के लिए स्वीकार किया। यह 'जनहित अभियोग' की स्थिति थी।

(2) **राजनीतिक दलों और दलीय नेताओं के आचरण में गिरावट**—गत तीन दशकों से यह बात अनुभव की जा रही थी कि राजनीतिक दल और राजनीतिक दलों के नेता, जो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में स्थान पाते हैं बहुत ऊंचे स्वर और नारेबाजी के रूप में आर्थिक-सामाजिक न्याय के प्रति लगाव की बातें

न्यायालय ने उसे विचार के लिए स्वीकार किया। यह 'जनहित अभियोग' का स्थान था।

(2) **राजनीतिक दलों और दलीय नेताओं के आचरण में गिरावट**—गत तीन दशकों से यह बात अनुभव की जा रही थी कि राजनीतिक दल और राजनीतिक दलों के नेता, जो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में स्थान पाते हैं बहुत ऊंचे स्वर और नारेबाजी के रूप में आर्थिक-सामाजिक न्याय के प्रति लगाव की बातें

निरन्तर कर रहे थे, लेकिन व्यवहार में उन्होंने सामान्य जन और उनके हितों के प्रति घोर उदासीनता की स्थिति को अपना लिया था। यह स्थिति न्यायाधीशों सहित समाज के सभी संवेदनशील तत्वों को उद्विग्न कर रही थी। ऐसी स्थिति में न्यायाधीशों ने सोचा कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को जन हितों के प्रति सचेत किया जाना चाहिए।

(3) **विधायी संस्थाओं में व्याप्त घोर अव्यवस्था और कार्यपालिका की अक्षमता**—इस सदी के सातवें दशक से ही विधायी संस्थाएं घोर अव्यवस्था और शोर-शराबे का प्रतीक बनती जा रही थीं, 'राजनीतिक उठा पटक' की स्थितियां थीं, सत्तारूढ़ वर्ग की रुचि केवल इस बात में थी कि 'येन केन प्रकारेण' स्वयं को सत्ता में बनाये रखा जाय। सत्ता पक्ष और विपक्ष निरन्तर टकराव और कुछ परिस्थितियों में खुले और भद्दे टकराव की स्थिति में थे। विधायी और कार्यपालिका संस्थाओं की इस अक्षमता के कारण राज व्यवस्था में एक रिक्तता की स्थिति पैदा हो गई थी। स्वाभाविक रूप से न्यायपालिका को प्रेरणा मिली कि वह इस रिक्तता को भरने की चेष्टा करे। निजी शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित पी. ए. ईनामदार बनाम् महाराष्ट्र राज्य के विवाद में **मुख्य न्यायाधीश लाहोटी** ने कहा था : "जब सरकार के दो अन्य अंग की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका अपना कार्य नहीं करते, तब न्यायपालिका को सक्रिय होना ही होता है।"[1] कहावत भी है, 'शक्ति उन्हें प्राप्त होती है, जो उसका प्रयोग करने की इच्छा (और क्षमता) रखते हैं'। (Power flows to those, who choose to exercise it)

(4) **सर्वोच्च कार्यपालिका की अपने दायित्व से बचने की प्रवृत्ति**—इस सदी के अन्तिम दशक में सर्वोच्च कार्यपालिका ने दायित्व से बचने की चेष्टा करते हुए न्यायपालिका को कुछ ऐसे काम सौंपने की चेष्टा की, जो अपनी प्रकृति में राजनीतिक थे। कार्यपालिका जब 'मण्डल विवाद' को हल नहीं कर पाई, तब उसने सर्वोच्च न्यायालय की ओर देखा। इसी प्रकार जब अयोध्या में विवादास्पद ढांचा ढहा दिया गया, तब ऐतिहासिक प्रश्न की आड़ में यह विवाद सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श के लिए भेज दिया गया। चाहे आरक्षण का प्रश्न हो या नदी-जल विवाद, हर किसी विवाद को हल करने के लिए न्यायपालिका की ओर देखा जाने लगा।

(5) **राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार**—इस अन्तिम दशक में ही कार्यपालिका का कोई ऐसा पदाधिकारी नहीं बचा, जिस पर भ्रष्ट आचरण के आरोप न लगे हों। ये सभी आरोप करोड़ों-अरबों रुपयों की धनराशि के सम्बन्ध में थे। दूसरी ओर महामारियों की रोकथाम का प्रश्न हो या पर्यावरण की रक्षा अथवा कानून और व्यवस्था का प्रश्न कार्यपालिका सभी मामलों में घोर अकर्मण्यता का परिचय दे रही थी। ऐसी स्थिति में न्यायालयों; सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने जरूरी समझा कि कार्यपालिका को कर्तव्य पालन के लिए निर्देश दिये जाय। 1980 के लगभग न्यायिक सक्रियता का उदय हुआ और समय के साथ-साथ यह धारणा विकसित होती गई। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक और 21वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में तो 'न्यायिक सक्रियतावाद' भारतीय संविधान और राजव्यवस्था का एक प्रमुख तत्व बन गया।

प्रारम्भ में 'न्यायिक सक्रियतावाद' को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया। सर्वोच्च न्यायालय से उच्च न्यायालयों को प्रेरणा प्राप्त हुई और उनके द्वारा 'न्यायिक सक्रियतावाद' को अपना लिया गया। इसके बाद कुछ विशेष न्यायालयों और जिला न्यायालयों के द्वारा भी भारी उत्साह भाव से न्यायिक सक्रियतावाद को अपनाने की सफल-असफल चेष्टाएं की गईं। न्यायिक सक्रियता की इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए ही अमेरिका की '*Times*' पत्रिका ने भारत की न्यायपालिका को **'दुनिया की सबसे सक्रिय न्यायपालिका'** कहा दिया है।

न्यायिक सक्रियतावाद का आशय—न्यायिक सक्रियतावाद का आशय है : "**संविधान, कानून और अन्य दायित्वों के प्रसंग में कानूनी व्याख्या से आगे बढ़कर सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और सामाजिक-आर्थिक न्याय की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए संविधान और कानून की रचनात्मक व्याख्या करते हुए जन साधारण के हितों की रक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना।**" इसके अन्तर्गत यह बात सम्मिलित है कि जन सामान्य के हित की दृष्टि से आवश्यक होने पर शासन को निर्देश देना और शासन की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाना न्यायपालिका का दायित्व है। न्यायिक सक्रियतावाद के एक पक्षधर न्यायाधीश पी. एन. भगवती ने 1982 में

1. 'Judicial wing of the state is called upon to act, when the other two wings, the Legislature and the executive do not act' : Chief Justice R. C. Lahoti in P. A. Inamdar vs. Maharashtra (*Times of India*, Sep. 8, 2005).

कहा था : "सर्वोच्च न्यायालय ने विगत दो वर्षों से देश में विद्यमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए समस्त व्यवस्था में सक्रिय दृष्टिकोण अपना लिया है।"[1] 1980-2014 ई. के काल में न्यायिक सक्रियता में निरन्तर वृद्धि ही हुई है। **मई** 2010 में **एच. एच. कपाड़िया** के मुख्य न्यायाधीश के पद को ग्रहण किये जाने के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने और अधिक सक्रिय भूमिका तथा भ्रष्टाचार को लेकर अधिक गंभीर रुख का परिचय दिया। फरवरी 2012 ई. में तो सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार द्वारा दूर-संचार के क्षेत्र में दिये गये 122 लाइसेंस रद्द कर दिये और सरकार को निर्देश दिया कि **'खुली नीलामी की प्रक्रिया'** को अपनाते हुए नये लाइसेंस जारी किये जाएं। परम्परागत रूप में यह सोचा जाता रहा है कि न्यायपालिका को राज व्यवस्था में मात्र 'निषेधात्मक भूमिका' ही प्राप्त है, न्यायिक सक्रियतावाद के आधार पर न्यायपालिका को निषेधात्मक भूमिका के साथ-साथ एक सकारात्मक भूमिका, वस्तुतः एक रचनात्मक भूमिका प्राप्त हो जाती है। इसी आधार पर कुछ विद्वान 'न्यायिक सक्रियतावाद' के स्थान पर **'न्यायिक रचनात्मकता'** या **'न्यायपालिका की रचनात्मक भूमिका'** शब्दों का प्रयोग करते हैं।

न्यायिक सक्रियता : विविध रूप और मान्यताएं

न्यायिक सक्रियता एक विविध रूप स्थिति है, इसके कुछ प्रमुख पक्ष और मान्यताएं हैं :

1. **जन हितकारी अभियोगों की मान्यता**—परम्परागत धारणा यह रही है कि न्यायालय से न्याय पाने का हक उसी व्यक्ति को है, जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है किन्तु न्यायिक सक्रियतावाद के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने आंग्ल विधि के उपर्युक्त नियम को परिवर्तित करते हुए यह व्यवस्था की है कि कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे समूह या वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता है जिसको उसके कानूनी या संवैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया कि गरीब, अपंग अथवा सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से दलित लोगों के मामले में आम जनता का कोई आदमी न्यायालय के समक्ष 'वाद' ला सकता है। न्यायालय अपने सारे तकनीकी तथा कार्य-विधि सम्बन्धी नियमों की परवाह किये बिना उसे लिखित रूप में देने मात्र से ही कार्यवाही करेगा। न्यायाधीश **कृष्णा अय्यर** के अनुसार 'वाद कारण' और 'पीड़ित व्यक्ति' की संकुचित धारणा का स्थान अब **'वर्ग-कार्यवाही'** और **'लोकहित में कार्यवाही'** ने ले लिया है। ऐसे मामलों की शुरुआत संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने की थी। भारत में इसकी शुरुआत भागलपुर (बिहार) जेल में विचाराधीन बन्दी रखे गये कैदियों से हुई। इनके विषय में पुलिस आयोग के सदस्य के. एफ. रुस्तमजी ने एक लेख लिखा तथा एडवोकेट श्रीमती हिंगोरानी ने धारा 32 के अन्तर्गत उनके मामलों को सर्वोच्च न्यायालय में उठाया। बिहार की इन जेलों में सैकड़ों विचाराधीन कैदी किसी अदालती कार्यवाही के बिना ही वर्षों से सड़ रहे थे। इनकी ओर से न कोई जमानत देने वाला था और न कोई वकील था। अतएव जनहित में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि बिना कारण किसी को जेल में बन्दी न रखा जाय। यदि उस पर मुकदमा चलाने में 18 माह से अधिक समय लग रहा हो तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने गरीब और असहाय लोगों की ओर से जनहित में चलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मुकदमा लड़ने का अधिकार दे दिया है।

'जनहित अभियोग' न्यायिक सक्रियता का एक प्रमुख पक्ष है। जनहित अभियोग की शुरुआत भागलपुर जेल के विचाराधीन कैदियों के मामले से हुई और गत दो दशकों से जनहित अभियोगों की स्थिति चली आ रही है। जनहित अभियोग के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने जिन विवादों की सुनवाई की, उनमें कुछ प्रमुख हैं : आगरा प्रोटेक्शन होम केस, मुम्बई के पटरी वासियों का मामला, सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन पुलिस ड्राइवरों का केस, उत्तर प्रदेश के चमारों का मुकदमा, तिलोनिया (अजमेर जिला) के श्रमिकों का केस, रुदल शाह बनाम बिहार राज्य और एशियाड श्रमिक केस, आदि। जनहित अभियोगों में न्यायालय स्वयं अपनी पहल पर सक्रिय नहीं हुए, वरन् सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ताओं ने न्यायालयों को सक्रिय किया।

2. **कानूनी न्याय के साथ-साथ आर्थिक-सामाजिक न्याय पर बल**—संविधान लागू किये जाने के बाद लगभग तीन दशक तक यह समझा जाता था कि न्यायालयों का कार्य कानूनी न्याय प्रदान करना है, लेकिन न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत संविधान की भावना को दृष्टि में रखते हुए इस विचार को अपनाया गया कि देश के

1 "The Supreme Court has adopted a pro-active approach for the last two years, particularly having regard to the peculiar socio-economic conditions prevailing in the country." —*Justice P. N. Bhagwati*

11:07

44

Convert this document and share it as an image

Share

दीन और दलित लोगों के प्रति न्यायालयों का विशेष दायित्व है। अतः न्यायालयों को कानूनी न्याय से आगे बढ़कर आर्थिक-सामाजिक न्याय प्रदान करने का प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के चमारों के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं उनकी सामाजिक-आर्थिक दशाओं को जांचने के लिए एक आयोग गठित किया तथा राज्य सरकार को उस आयोग का व्यय भार उठाने का आदेश दिया। आयोग की जांच रिपोर्ट के आधार पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि चमारों का धन्धा ठेके पर उठा दिये जाने से उन्हें न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलेगी। यही नहीं वरन् सर्वोच्च न्यायालय ने घोषणा कर दी कि यदि निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी दी जाती है तो वे इसे संविधान के अनुच्छेद 23 का उल्लंघन और बेगार मानेंगे। अकेला यही निर्णय हजारों-लाखों श्रमिकों को लाभ पहुंचाने वाला सिद्ध हुआ। 'एशियाड श्रमिक केस' में भी न्यायालय के द्वारा यही दृष्टिकोण अपनाया गया।

इसी प्रकार '**बन्धुआ मुक्ति मोर्चा** बनाम **भारत सरकार**' विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने '**बन्धुआ मुक्ति मोर्चा' संस्था के पत्र को रिट मानकर** हरियाणा राज्य के फरीदकोट जिले की पत्थर खानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा की जांच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया और आयोग ने जब अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'श्रमिक अमानवीय दशा में कार्यरत है' तब न्यायालय ने इन मजदूरों की मुक्ति के आदेश दिये। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने शासन को निर्देश दिया कि वह विवाद में 'निर्धन पक्षकार' को कानूनी सहायता प्रदान करें, अन्यथा उनके लिए अदालत की समस्त कार्यवाही 'अन्याय का प्रतीक' बनकर रह जायेगी।

3. **शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण**—न्यायिक सक्रियतावाद का एक रूप और प्रयोजन शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण है। संविधान और कानूनों के अन्तर्गत उच्च कार्यपालिका अधिकारियों को कुछ 'स्वविवेकीय शक्तियां' प्रदान की गई हैं। इन स्वविवेकीय शक्तियों का औचित्य हो सकता है, लेकिन व्यवहार में देखा गया कि कार्यपालिका अपनी इन स्वविवेकी शक्तियों के आधार पर स्वेच्छाचारिता का मार्ग अपना लेती है। इस पृष्ठभूमि में न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात का प्रतिपादन किया कि विवेकात्मक शक्तियों के अन्तर्गत सरकार की कार्यवाही विवेक सम्मत होनी चाहिए तथा इस कार्यवाही को सम्पन्न करने के लिए जो कार्यविधि अपनाई जाय वह कार्यविधि भी विवेक सम्मत, उत्तम तथा न्यायपूर्ण होनी चाहिए।

4. **शासन को आवश्यक निर्देश देना**—1993-2014 ई. के वर्षों में तो सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने न्यायिक सक्रियता के आधार पर समस्त राजनीतिक व्यवस्था में पहले से बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली। इन न्यायालयों ने जब यह देखा कि जांच एजेन्सियां उच्च पदस्थ व्यक्तियों के विरुद्ध जांच कार्य में ढिलाई बरत रही हैं तब न्यायालयों ने विभिन्न जांच एजेन्सियों को अपना कार्य ठीक ढंग से करने के लिए निर्देश दिये और इस बात का प्रतिपादन किया कि '**व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो, कानून उससे ऊपर है**' तथा सरकारी एजेन्सी को अपना कार्य निष्पक्षता के साथ करना चाहिए।

भ्रष्टाचार से जुड़े कुछ मामलों में तो न्यायालयों ने जांच की निगरानी का कार्य भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने हाथ में ले लिया। 'हवाला काण्ड' में सर्वोच्च न्यायालय और 'चारा घोटाले' में पटना उच्च न्यायालय ने इसी स्थिति को अपनाया। 2009-10 में सर्वोच्च न्यायालय '**गुजरात के साम्प्रदायिक दंगों**' 2002 ई. के सम्बन्ध में इसी स्थिति को अपना रहा है। अन्य भी ऐसे कुछ उदाहरण हैं। ये ऐसी स्थितियां हैं, जिनके सम्बन्ध में इस सदी के नौवें दशक तक सोचा भी नहीं जा सकता था।

इससे भी आगे बढ़कर सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वप्रथम 1996 में प्रधानमन्त्री को निर्देश दिया कि वे कर्नाटक तथा तमिलनाडु के बीच कावेरी जल विवाद को हल करने के लिए प्रयत्न करें। 1998 में पुनः शासन को यह निर्देश 'तीन सप्ताह की समय-सीमा' निश्चित करते हुए दिया गया। पिछले 15 वर्षों में न्यायालयों ने शासन को कानून और व्यवस्था बनाये रखने, प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी संविधान के प्रावधान को अनिवार्य रूप से लागू करने, बाल श्रम को समाप्त करने, बस दुर्घटनाओं को रोकने की दृष्टि से व्यवस्था करने, सफाई की व्यवस्था कर महामारियों की रोकथाम करने, भूमि अतिक्रमण और आवासीय स्थानों के व्यापारिक उपयोग की स्थितियों को दूर करने सरसों के तेल में मिलावट को रोकने या पर्यावरण की रक्षा के लिए विविध व्यवस्था करने के लिए आवश्यक व्यवस्था करने और पर्यावरण की रक्षा, आदि के प्रसंग में समय-समय पर अनेक निर्देश-आदेश दिये हैं।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

न्यायिक सक्रियता की आलोचना

जब न्यायिक सक्रियता के आधार पर न्यायपालिका ने अपने लिए समस्त राज व्यवस्था में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली, तब न केवल न्यायिक सक्रियता की प्रवृत्ति, वरन् स्वयं न्यायपालिका भी तीखी आलोचना का विषय बनी। कांग्रेस के तत्कालीन महासचिव **वी. पी. मौर्य** ने दिसम्बर '96 में कहा : "सर्वोच्च न्यायालय संविधान द्वारा निर्धारित भूमिका का उल्लंघन कर कानून निर्माता बन रहा है। वह कार्यपालिका और नौकरशाही को विविध प्रकार के आदेश निर्देश देते हुए '**व्यवस्थापिका के तीसरे सदन**' की भूमिका निभाने की चेष्टा कर रहा है। आलोचकों के अनुसार, 'न्यायाधीशों की प्रचार पाने की भूख ने उन्हें न्यायिक सक्रियता के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है।'

न केवल वी. पी. मौर्य की श्रेणी के राजनीतिज्ञों वरन् कुछ बहुत प्रमुख न्यायविदों और विधिवेत्ताओं ने भी न्यायिक सक्रियता की आलोचना की है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता **ननी पालखीवाला** न्यायिक सक्रियता पर कड़ी आपत्ति प्रकट करते हुए इसे '**एक तरह की न्यायिक तानाशाही**' कहते हैं और न्यायमूर्ति **एच. आर. खन्ना** का कहना है कि, 'न्यायालयों का मुख्य कार्य विवादों का अविलम्ब निपटारा करना है। न्यायालयों ने अपने इस कार्य पर ध्यान न देकर न्यायिक सक्रियता के रूप में जिस स्थिति को अपनाया है, वह स्वेच्छाचारिता है, न्यायालयों की यह स्वेच्छाचारिता न केवल अनौचित्यपूर्ण वरन् तर्क विरुद्ध भी है।' इस बात को तो भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश **ए. एम. अहमदी** भी स्वीकार करते हैं कि 'सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ मामलों में अतिशयता को अपना लिया है।'[1] दो अन्य पूर्व मुख्य न्यायाधीश **जे. एस. वर्मा** और **वी. एन. खरे** भी चेतावनी देते हैं कि न्यायपालिका स्वयं को उस जगह से ऊपर नहीं रख सकती, जहां उसे संविधान ने रखा है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत 'कोई गैर निर्वाचित संस्था' (न्यायपालिका) नीति निर्धारक निकाय का रूप नहीं ले सकती है।

आलोचकों का कहना है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के कुछ निर्णयों मात्र से व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हो पाना सम्भव नहीं है। 1982 का 'बन्धुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ' का मामला इस बात का मोटा उदाहरण है। 'बन्धुआ मुक्ति मोर्चा के स्वामी अग्निवेश ने अपनी याचिका के जरिए फरीदाबाद की पत्थर खदानों में काम कर रहे बाल मजदूरों के मूल अधिकारों का प्रश्न उठाया था। वे कहते हैं—"सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस प्रसंग में जारी 21 निर्देशों में से किसी पर भी अब तक अमल नहीं हुआ है।" इस स्थिति का एक कारण यह रहा है कि **सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र की यथार्थ परिस्थितियों को ध्यान में न रखते हुए निर्णय दे दिये गये।** प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता, बन्धुआ मजदूरी का अन्त और बाल श्रम की समाप्ति आदि विषय ऐसे नहीं हैं, जिनके सम्बन्ध में मात्र न्यायिक निर्णय से लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। इन लक्ष्यों की प्राप्ति एक ओर तो जन संघर्ष तथा दूसरी ओर राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों के विवेकपूर्ण सामंजस्य तथा सहयोग से ही सम्भव है। अकेली न्यायपालिका इस प्रसंग में कुछ नहीं कर सकती है।

आलोचकों के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय समस्त प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार के लिए प्रयत्नशील है, लेकिन निचली अदालतों में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार, जिससे हम सभी परिचित हैं, के प्रति वे पूर्णतया उदासीन हैं। उच्च स्तर की न्यायपालिका का, '**न्यायिक सम्मान के प्रति अत्यधिक भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण**' उचित नहीं कहा जा सकता है। न्यायालय जिस प्रकार से न्यायालय अवमान की प्रक्रिया को अपनाते हैं, उसके सम्बन्ध में **न्यायमूर्ति खन्ना** लिखते हैं : "उचित रूप में की गई आलोचना स्वीकार की ही जानी चाहिए। न्यायालय-अवमान के अन्तर्गत दण्डात्मक कार्यवाही सकारात्मक आलोचना का उत्तर नहीं है। कुछ सर्वाधिक योग्य न्यायाधीशों ने अपने निर्णयों में इस बात पर बल दिया है कि न्यायालय अवमान की कार्यवाही के प्रसंग में अत्यधिक संयम बरता जाना चाहिए।"[2] नागरिकों और प्रेस को न्यायिक प्रक्रिया की सत्यनिष्ठा को परखने का अधिकार होना ही चाहिए। यदि न्यायपालिका सरकार के प्रत्येक अंग को जवाबदेह बनाना चाहती है, लेकिन स्वयं किसी के प्रति जवाबदेह नहीं होना चाहती तो इसे '**न्यायिक निरंकुशता**' (Judicial absolution) ही कहना होगा।

1 मुख्य न्यायाधीश ए. एम. अहमदी के साथ पत्रकार कुलदीप नैयर की विस्तृत बातचीत नवज्योति, 2 अप्रैल, 1998.

2 "Genuine criticism has to be accepted. Punishment under the contempt of court act is no answer to positive criticism. Some of our best judges have always proved in their judgement why tremendous restraint is required while exercising such jurisdiction."
—Justice H. R. Khanna : '*Who can Judge the Judges*', *Hindustan Times*, 18 Jan., 1997

"Genuine criticism has to be accepted. Punishment under the contempt of [illegible] criticism. Some of our best judges have always proved in their judgement why tremendous restraint is required while exercising such jurisdiction."

—Justice H. R. Khanna : *'Who can Judge the Judges'*, *Hindustan Times*; 18 Jan., 1997

न्यायिक सक्रियतावाद : महत्व और सीमाएं

न्यायिक सक्रियतावाद के प्रति की गई इन आलोचनाओं में 'सत्य के अंश' होने के बावजूद यह तथ्य है कि न्यायिक सक्रियतावाद के सम्बन्ध में आज की स्थिति के लिए स्वयं न्यायपालिका उत्तरदायी नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय ने **परिस्थितियों से प्रेरित और बाध्य होकर ही न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाया था और अपनाए हुए हैं।** यदि केन्द्रीय और राज्य स्तर की विधायी और कार्यपालिका संस्थाएं अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनी रहतीं यदि इन संस्थाओं ने संविधान के आदर्शों के प्रति आस्था और 'सार्वजनिक हित के प्रति संवेदनशीलता' को अपनाया होता तो न्यायिक सक्रियता की कोई आवश्यकता नहीं थी। तथ्य यह है कि विधायी संस्थाएं मात्र अव्यवस्था और शोर शराबे का प्रतीक बनकर रह गईं तथा कार्यपालिका ने कुछ मामलों में अकर्मण्यता और अन्य कुछ मामलों में मनमाने आचरण की स्थिति को अपना लिया। इसके अतिरिक्त इस सदी के अन्तिम दशक में तो भ्रष्ट आचरण के कुछ ऐसे काण्ड और घोटाले प्रकाश में आये, जिनमें करोड़ों-अरबों रुपयों की धनराशि निहित थी और जिनमें सन्देह की सुइयां कार्यपालिका के उच्चतम स्तरों तक जाती थीं। राजनीति में अपराधी तत्वों की बड़ी संख्या में मौजूदगी भी नितान्त स्पष्ट हो चुकी थी। ये ऐसी स्थितियां थीं, जिन्होंने सामान्य जनता के लोकतन्त्र, संविधान और समस्त राजव्यवस्था के प्रति विश्वास को आघात पहुंचाया। ऐसी स्थिति में जब न्यायिक सक्रियता की स्थिति देखी गई, तो राज व्यवस्था की कम-से-कम एक संस्था न्यायपालिका के प्रति जनता का विश्वास बना रहा। जनता ने सोचा कि अभी भी आशा की किरण शेष है और इस बात ने सामान्य जन के मन-मस्तिष्क में राज-व्यवस्था के प्रति विश्वास को कुछ सीमा तक बनाये रखने में योगदान किया। न्यायिक सक्रियता के सम्बन्ध में सामान्य जन का विचार यह है कि, "न्यायिक सक्रियता के प्रकाश को और आगे तक ले जाये जाने की आवश्यकता है। न्यायपालिका ने बहुत अधिक विश्वसनीयता के साथ लोकतान्त्रिक व्यवस्था और सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों के प्रहरी की भूमिका निभाई है।"[1]

न्यायिक सक्रियता की यह प्रवृत्ति और स्थिति उच्चतम स्तर के राजनीतिज्ञों और सर्वोच्च स्तर पर आसीन समस्त अभिजनों को एक चेतावनी है। न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता के आधार पर भ्रष्टाचार और अराजकता की हद पार कर रही राजनीति पर लगाम लगाने और उसे पतित होने से बचाने की चेष्टा की है। यदि न्यायिक सक्रियता के आधार पर देश का नैतिक नेतृत्व न्यायपालिका के हाथ में चला गया है, तो यह दोष व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का है न्यायपालिका का नहीं। न्यायिक सक्रियतावाद के पक्ष में एक बात यह भी है कि न्यायालय कानून के दायरे से बाहर जाकर कुछ नहीं कर रहे हैं।

निष्कर्ष : संयम और सन्तुलन की आवश्यकता—न्यायिक सक्रियता के प्रसंग में दोनों ही पक्षों का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जब विधायी संस्थाएं और कार्यपालिका अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाएं तब न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाना आवश्यक हो जाता है। इस सदी के नौवें और अन्तिम दशक में कुछ सीमा तक यह स्थिति पैदा हो गई थी और अब भी यह स्थिति बनी हुई है। ऐसी स्थिति में शासन की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाकर और राज व्यवस्था के विविध अंगों को सचेत कर न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता के आधार पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, लेकिन इस सीमा तक न्यायिक सक्रियता की स्थिति मात्र एक अस्थायी स्थिति ही हो सकती है। '**एक ऐसी लक्ष्मण रेखा अंकित करने की आवश्यकता है जिससे न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के दायित्वों को न हथिया ले।**' मार्च 2005 ई. में आयोजित 'स्पीकर सम्मेलन' में लोकसभा के स्पीकर सोमनाथ चटर्जी ने इस प्रकार की लक्ष्मण रेखा की आवश्यकता व्यक्त की है। अप्रैल 2007 ई. में तो संयम के धनी **प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह** को भी कहना पड़ा : "**न्यायपालिका अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर जा रही है। न्यायपालिका के व्यापक अधिकार क्षेत्र का मतलब यह नहीं है कि वह विधायिका और कार्यपालिका के अधिकारों को अपने हाथ में ले ले।**"

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीश और सोली सोराबजी जैसे विधिवेत्ता समय-समय पर न्यायपालिका को ऐसा परामर्श दे चुके हैं। न्यायिक सक्रियता ने भारतीय राज-व्यवस्था में उपयोगी भूमिका अदा की है, लेकिन न्यायिक सक्रियता की सीमाएं हैं। वस्तुतः न केवल न्यायपालिका, वरन् राज-व्यवस्था के सभी अंगों और पदाधिकारियों को अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करने के साथ-साथ सीमाओं को भी दृष्टि में रखना होगा। संविधान के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि कानून

1 "The Torch of Judicial activism needs to be carried further. Judiciary has very creditably assumed the role of watchdog of democratic and ethical values in public life."

—Sudhir Vaishnav : *Carry on Judiciary*, *Economic Times*; 14 Nov., 1997, p. 11.

11:07
44

... न्यायाधिकारियों को अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करने के साथ-साथ सीमाओं को भी दृष्टि में रखना होगा। संविधान के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि कानून

1 "The Torch of Judicial activism needs to be carried further. Judiciary has very creditably assumed the role of watchdog of democratic and ethical values in public life."
—Sudhir Vaishnav : *Carry on Judiciary, Economic Times*; 14 Nov., 1997, p. 11.

और न्याय व्यवस्था में मूलभूत सुधारों सहित समस्त व्यवस्था में मूल परिवर्तन किये जायें। राजव्यवस्था के विविध अंग अपने दायित्वों के प्रति सजगता को अपनायें, साथ ही अपनी मर्यादाओं और सीमाओं को दृष्टि में रखें और राज-व्यवस्था के विविध अंग परस्पर सहयोग-सामंजस्य के आधार पर संविधान और राजव्यवस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ें।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न (उत्तर लगभग 400 शब्द)

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की रचना एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय संविधान के अन्तर्गत न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए क्या प्रबन्ध किये गये हैं? इस प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति से सम्बन्धित विवाद पर टिप्पणी लिखिए।
3. न्यायिक पुनर्विलोकन से आप क्या समझते हैं? भारत के सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. 'न्यायिक सक्रियतावाद' (Judicial Activism) से आप क्या समझते हैं? आज की परिस्थितियों में न्यायिक सक्रियतावाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।
5. 'न्यायिक सक्रियतावाद' पर एक लेख लिखते हुए न्यायिक सक्रियतावाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए। क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि, "न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही विस्तार है।"

लघु उत्तरात्मक प्रश्न (उत्तर लगभग 50 शब्द)

1. भारत में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
2. सर्वोच्च न्यायालय के संगठन का वर्णन कीजिए।
3. सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
4. सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
5. सर्वोच्च न्यायालय के परामर्शी क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
6. 'सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है' स्पष्ट कीजिए।
7. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए क्या व्यवस्था की गई है, स्पष्ट कीजिए।
8. न्यायिक पुनर्विलोकन से आप क्या समझते हैं?
9. भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
10. न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना की दो प्रमुख बातें स्पष्ट कीजिए।
11. न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व स्पष्ट कीजिए।
12. न्यायिक सक्रियतावाद से आप क्या समझते हैं?
13. न्यायिक सक्रियतावाद का महत्व स्पष्ट कीजिए।
14. न्यायिक सक्रियतावाद की सीमाएं बताइए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न (उत्तर लगभग 20 शब्द)

1. सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता के प्रमुख बिन्दु बतलाइये।
2. वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय में कितने न्यायाधीश हैं?
3. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?
4. सर्वोच्च न्यायालय को प्रारंभिक क्षेत्राधिकार किन विवादों में प्राप्त है?
5. सर्वोच्च न्यायालय को किस-किस प्रकार का अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त है?
6. सर्वोच्च न्यायालय का परामर्शीय क्षेत्राधिकार क्या है?
7. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिये जो व्यवस्थाएं की गई हैं, उनमें से कोई दो बातें बतलाइये।
8. न्यायिक पुनर्विलोकन से आप क्या समझते हैं?
9. न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना की दो प्रमुख बातें बतलाइये।
10. न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व बतलाते हुए दो बातें लिखिये।
11. न्यायिक सक्रियतावाद से आप क्या समझते हैं?
12. न्यायिक सक्रियतावाद की दो प्रमुख बातें बतलाइये।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

सर्वोच्च न्यायालय कॉलेजियम ने उच्च न्यायालयों में पाँच नए मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की सिफारिशें की है।

कॉलेजियम प्रणाली और इसका विकास:

- यह न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानांतरण की प्रणाली है, जो संसद के किसी अधिनियम या संविधान के प्रावधान द्वारा स्थापित न होकर सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के माध्यम से विकसित हुई है।
- **कॉलेजियम प्रणाली का विकास:**
  - **प्रथम न्यायाधीश मामला** (1981):
    - इसने यह निर्धारित किया कि न्यायिक नियुक्तियों और तबादलों पर भारत के मुख्य न्यायाधीश (CJI) के सुझाव की "प्रधानता" को "ठोस कारणों" से अस्वीकार किया जा सकता है।
    - इस निर्णय ने अगले 12 वर्षों के लिये न्यायिक नियुक्तियों में न्यायपालिका पर कार्यपालिका की प्रधानता स्थापित कर दी है।
  - **दूसरा न्यायाधीश मामला (1993):**
    - सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट करते हुए कॉलेजियम प्रणाली की शुरुआत की कि "परामर्श" का अर्थ वास्तव में "सहमति" है।
    - इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने आगे कहा कि यह CJI की व्यक्तिगत राय नहीं होगी, बल्कि सर्वो... दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों के परामर्श ... एक संस्थागत राय ...

Contact Us

- इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने आगे कहा कि यह CJI की व्यक्तिगत राय नहीं होगी, बल्कि सर्वोच्च न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों के परामर्श से ली गई एक संस्थागत राय होगी।

- **तीसरा न्यायाधीश मामला (1998):**
  - राष्ट्रपति द्वारा जारी एक प्रेज़िडेंशियल रेफरेंस (Presidential Reference) के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने पाँच सदस्यीय निकाय के रूप में कॉलेजियम का विस्तार किया, जिसमें CJI और उनके चार वरिष्ठतम सहयोगी शामिल होंगे।

कॉलेजियम प्रणाली का प्रमुख:

- **सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम की अध्यक्षता CJI द्वारा** की जाती है और इसमें सर्वोच्च न्यायालय के चार अन्य वरिष्ठतम न्यायाधीश शामिल होते हैं।
- एक **उच्च न्यायालय के कॉलेजियम का नेतृत्व उसके मुख्य न्यायाधीश और उस न्यायालय के चार अन्य वरिष्ठतम न्यायाधीश** करते हैं।
  - उच्च न्यायालय के कॉलेजियम द्वारा नियुक्ति के लिये अनुशंसित नाम **CJI और सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम के अनुमोदन के बाद** ही सरकार तक पहुँचते है।
- **उच्च न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति कॉलेजियम प्रणाली के माध्यम से** ही की जाती है और इस प्र[illegible] की भूमिका कॉलेजियम द्वारा नाम तय किये [illegible] प्रक्रिया में ही होती है।

- **उच्च न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति कॉलेजियम प्रणाली के माध्यम से** ही की जाती है और इस प्रक्रिया में सरकार की भूमिका कॉलेजियम द्वारा नाम तय किये जाने के बाद की प्रक्रिया में ही होती है।

विभिन्न न्यायिक नियुक्तियों के लिये निर्धारित प्रक्रिया:

- **भारत का मुख्य न्यायाधीश (CJI):**
  - **CJI और सर्वोच्च न्यायालय के अन्य जजों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा** की जाती है।
  - अगले CJI के संदर्भ में **निवर्तमान CJI अपने उत्तराधिकारी के नाम की सिफारिश** करता है।
  - हालाँकि वर्ष 1970 के दशक के अतिलंघन विवाद के बाद से व्यावहारिक रूप से इसके लिये **वरिष्ठता के आधार का पालन** किया जाता है।
- **सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश:**
  - सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों के लिये नामों के चयन का **प्रस्ताव CJI द्वारा** शुरू किया जाता है।
  - CJI कॉलेजियम के बाकी सदस्यों के साथ-साथ उस उच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश से भी परामर्श करता है, जिससे न्यायाधीश पद के लिये अनुशंसित व्यक्ति संबंधित होता है।
  - निर्धारित प्रक्रिया के तहत परामर्शदाताओं को लिखित रूप में अपनी राय दर्ज करानी होती है और इसे [illegible] बनाया जाना चाहिये।

Contact Us

- इसके पश्चात् कॉलेजियम केंद्रीय कानून मंत्री को अपनी सिफारिश भेजता है, जिसके माध्यम से इसे राष्ट्रपति को सलाह देने हेतु प्रधानमंत्री को भेजा जाता है।

- **उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के लिये:**

  - उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति इस आधार पर की जाती है कि मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने वाला व्यक्ति संबंधित राज्य से न होकर किसी अन्य राज्य से होगा।
  - यद्यपि चयन का निर्णय कॉलेजियम द्वारा लिया जाता है।
  - उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सिफारिश CJI और दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों वाले एक कॉलेजियम द्वारा की जाती है।
  - हालाँकि इसके लिये प्रस्ताव को संबंधित उच्च न्यायालय के निवर्तमान मुख्य न्यायाधीश द्वारा अपने दो वरिष्ठतम सहयोगियों से परामर्श के बाद पेश किया जाता है।
  - यह सिफारिश मुख्यमंत्री को भेजी जाती है, जो इस प्रस्ताव को केंद्रीय कानून मंत्री को भेजने के लिये राज्यपाल को सलाह देता है।

- **कॉलेजियम प्रणाली की आलोचना:**

  - स्पष्टता एवं पारदर्शिता की कमी।
  - भाई-भतीजावाद जैसी विसंगतियों की संभावना।
  - सार्वजनिक विवादों में उलझना।
  - कई प्रतिभाशाली कनिष्ठ न्यायाधीशों और अधिवक्ताओं की अनदेखी।

नियुक्ति प्रणाली में सुधार के प्रयास:

- 'राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग' (99वें संशोधन अधिनियम, 2014 के माध्यम से) द्वारा इसे प्रतिस्थापित करने के प्रयास को वर्ष 2015 में न्यायालय ने इस आधार पर खारिज कर दिया कि यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिये खतरा है।

आगे की राह

- कार्यपालिका और न्यायपालिका को शामिल करते हुए रिक्तियों को भरना एक सतत् व सहयोगी प्रक्रिया है तथा इसके लिये कोई समय-सीमा नहीं हो सकती है। हालाँकि यह एक स्थायी, स्वतंत्र निकाय के बारे में सोचने का समय है जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने हेतु पर्याप्त सुरक्षा उपायों के साथ प्रक्रिया को संस्थागत बनाने के लिये न्यायिक प्रधानता की गारंटी देता है लेकिन न्यायिक विशिष्टता की नहीं।

- इसे स्वतंत्रता सुनिश्चित करनी चाहिये, विविधता को प्रतिबिंबित करना चाहिये, पेशेवर क्षमता और अखंडता का प्रदर्शन करना चाहिये।

11:27
44

29

जन हित याचिका (पी आई एल)

* फादर पी.डी. मैथ्यू

प्रस्तावना

हाल ही के वर्षों में जो एक महत्वपूर्ण विकास हुआ है वह है कानून के माध्यम से सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक सुधार का कार्य जिसे जनहित याचिका (पी आई एल) कहा जाता है। पी आई एल का उद्‌भव होने तक हमारे अशिक्षित, अभावग्रस्त और शोषित जनता के लिए न्याय प्राप्त करना वास्तविकता से दूर था। इसमें मुख्यतः तीन बड़ी मुश्किलें थीं (i) लोगों में जागरूकता का अभाव; (ii) उनकी निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति के कारण दृढ़ता का अभाव, और (iii) उन्हें कानूनी सहायता प्रदान करने के लिए प्रभावशाली तंत्र का अभाव। यह तभी होगा जब लोग यह जानेंगे कि उनके द्वारा किया गया गलत व्यवहार कानूनी रूप से गलत है और इसके लिए कानूनी समाधान उपलब्ध है तभी वे कानूनी समाधान प्राप्त करेंगे। यदि उन्हें अपने कानूनी अधिकारों की जानकारी हो तो भी निर्धन व्यक्ति के पास खर्चीली याचिका के लिए न तो साधन होते हैं और न ही उसमें इच्छा शक्ति। और जहाँ कहीं अत्यधिक लोग एक ही प्रकार के अन्याय या शोषण के शिकार होते हैं तो भी उनमें से प्रत्येक के लिए अलग-अलग याचिका लगाना और अलग-अलग समाधान प्राप्त करना संभव नहीं है। ये कुछ बड़ी बाधाएँ हैं जिनका न्याय प्राप्त करने में निर्धन व्यक्ति को सामना करना पड़ता है।

'सुने जाने का अधिकार' (अधिकारिता) की उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनः व्याख्या करने से निर्धन वर्ग की एक बड़ी बाधा दूर हो गई है तथा न्याय के लिए न्यायालय जाने का सरल मार्ग प्रशस्त हो गया है। पारम्परिक व्याख्या के अनुसार कानूनी गलती से पीड़ित व्यक्ति ही सहायता के लिए कानून के न्यायालय में जा सकता है। नई स्थिति यह है कि किसी व्यक्ति या वर्ग के प्रति कानूनी अन्याय किया

---

* फादर पी.डी. मैथ्यू, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

गलती से पीड़ित व्यक्ति ही सहायता के लिए कानून के न्यायालय में जा सकता

Convert this document and share it as an image
Share

जाता है और निर्धनता या अन्य किसी अक्षमता के कारण न्याय के लिए वह न्यायालय नहीं जा सकता तो उसकी या उनकी तरफ से लोक हित विचारवाला कोई व्यक्ति या समाज कार्य समूह याचिका डालने के लिए स्वतंत्र है। यह नई विचारधारा निर्धन और दलित वर्ग को न्याय प्रदान करने के लिए है और आशा है कि यह सभी के लिए सामाजिक-आर्थिक न्याय के संवैधानिक उद्देश्यों को सार्थक बनाएगी।

पी आई एल का अर्थ

जनहित याचिका का अर्थ है लोक हित या सामान्य हित लागू करने के लिए वैधानिक अदालत में कानूनी कार्रवाई आरंभ करना। ये हित जनता के या समुदाय के किसी वर्ग के आर्थिक अथवा कुछ अन्य हित होते हैं जिनके द्वारा उनके कानूनी अधिकार या दायित्व प्रभावित होते हैं। इसलिए पी आई एल एक ही कार्रवाई होती है जिसमें कोई व्यक्ति या समूह आम जनता के हित में न कि अपने उद्देश्यों के लिए सहायता प्राप्त करता है।

पी आई एल कानूनी सहायता आंदोलन का एक नीतिगत शस्त्र है जिसका उद्देश्य न्याय को निर्धन जनता की पहुँच में लाना है। यह एक ऐसी प्रणाली है जो उन व्यक्तियों को न्याय प्रदान करती है जो अकेले अदालतों तक पहुँचने की स्थिति में नहीं होते। यह लोगों के किसी वर्ग के लाभ के लिए आरंभ किया गया था जिन्हें संवैधानिक और कानूनी अधिकारों से वंचित रखा गया है और जो अपनी सामाजिक-आर्थिक अक्षमताओं के कारण न्यायालयों तक पहुँचने में असमर्थ हैं।

आज लाखों लोग विशेषतः समाज के दलित वर्गों के लोग न्याय प्राप्त करने और अपने जीवन की परिस्थिति या सुधारने के लिए न्यायालयों की ओर ताक रहे हैं। बदलते समय की माँगों और लोगों की आवश्यकता के प्रति संवेदी होने के लिए अदालतें अदालतों को निर्धन तथा इस देश में संघर्षरत जनता की अदालत बनाने के प्रयास कर रही हैं। सौभाग्य से धीरे-धीरे यह परिवर्तन हो रहा है और इस परिवर्तन को करने में पी आई एल बड़ी भूमिका निभा रही है।

पी आई एल की उत्पत्ति

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:28
44

पी आई एल की उत्पत्ति

ग्पी आई एल- शब्द की व्युत्पत्ति 1960 के दशक के मध्य में अमेरिका में हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में देश में विभिन्न आंदोलनों ने लोक हित कानून में काफी

योगदान दिया जो कानूनी सहायता आंदोलन का एक भाग थे। प्रथम कानूनी सहायता कार्यालय 1876 में न्यू यार्क में स्थापित किया गया। 1960 के दशक में पी आई एल आंदोलन को आर्थिक अवसर के कार्यालय वित्तीय सहायता प्राप्त होने लगी। इससे वकीलों और लोक हित विचार वाले लोगों को उपेक्षित वर्ग के मामले लेने तथा विभिन्न विषयों जैसे पर्यावरण के लिए जोखिम, लोक स्वास्थ्य को हानि, सुभेद्य जनता का शोषण, उपभोक्ताओं का शोषण तथा कमज़ोर वर्गों के प्रति अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने में प्रेरणा मिली। इंग्लैण्ड में 1970 के दशक में लॉर्ड डेनिंग के काल में पी आई एल ने प्रतिष्ठा प्राप्त की। याचिका दायरकर्ता के रूप में उसने न्यायालय के समक्ष अनेक सार्वजनिक हित के मामले प्रस्तुत किए।

भारत में पी आई एल का आंरभ 1970 के दशक के अंत में हुआ तथा 1980 के दशक तक चरम पर पहुँच गया। न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्ण अय्यर तथा न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती ने कुछ ऐसे उल्लेखनीय निर्णय दिए जिन्होंने पी आई एल को न्याय आयाम प्रदान किया।

उच्चतम न्यायालय के कुछ न्यायधीशों ने पी आई एल आरंभ करने की आवश्यकता महसूस की क्योंकि उन्होंने देखा कि अभी तक कानून की सुरक्षा अभी तक धनी और राजनीतिक रूप से शक्तिशाली लोगों को ही प्राप्त है। निर्धन लोगों के नागरिक और राजनीतिक अधिकार वास्तविक न होकर केवल कागजों में ही हैं। निर्धन और अशिक्षित वर्ग अपनी कानूनी समस्याओं को नहीं समझते और अत्यधिक खर्च तथा जटिल और धीमी प्रक्रियाओं के कारण मुकदमों की पारम्परिक प्रक्रिया के माध्यम से न्याय के लिए कानूनी सहायता प्राप्त नहीं कर पाते। अतः उनका विश्वास है कि अब समय आ गया है धनी व्यक्तियों के न्यायालयों को निर्धनों और शोषितों का न्यायालय भी बनाया गया। वे न्यायिक प्रणाली को सामाजिक न्याय के लिए प्रभावशाली साधन बनाना चाहते थे। न्यायमूर्ति भगवती ने कानूनी सहायता योजनाएँ लागू करने वाली समिति के अध्यक्ष के रूप में पी आई एल को बढ़ावा दिया।

उच्चतम न्यायालय ने अपनी मध्यस्थता करने के संवैधानिक अधिकारों का

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:28

44

उच्चतम न्यायालय ने अपनी मध्यस्थता करने के संवैधानिक अधिकारों का अनुभव किया जिन्हें वह सरकार की दमनकारी परम्पराओं, कानूनहीनता और प्रशासनिक लापरवाही तथा उदासीनता से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को घटाने में प्रयोग कर सकती है। सामाजिक न्याय के लिए प्रतिबद्ध न्यायाधीशों

ने जाना कि वे शासन का झुकाव अवंचितों के पक्ष में करने के लिए रक्षात्मक भूमिका निभा सकते है।

पी आई एल की प्रकृति

न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्ण अय्यर के अनुसार पी आई एल लोगों के लिए न्याय प्राप्त करने और कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से लोगों के कष्ट उज़ागर करने की एक प्रक्रिया है। पी आई एल का उद्देश्य आम आदमी के साथ हुए अन्याय के विरुद्ध उन्हें न्यायालय तक पहुँचाना और कानूनी समाधान प्राप्त करना है। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती का विचार था कि पी आई एल का स्वरूप विपरीत मुकदमा करना नहीं अपितु समुदाय के वंचित और सुभेद्य वर्गों के लिए बुनियादी मानवाधिकारों को सार्थक बनाने तथा हमारे संविधान की मूल भावना के अनुरूप उन्हें सामाजिक और आर्थिक न्याय प्रदान करने के लिए सरकार और उसके अधिकारियों को चुनौती और अवसर प्रदान करना है। सरकार और इसके अधिकारियों को पी आई एल का सम्मान करना चाहिए क्योंकि यह उन्हें यह जाँच करने का एक अवसर प्रदान करती है कि क्या निर्धन और पद दलितों को सामाजिक अधिकार मिल रहे हैं या वे समाज के शक्तिशाली और अधिकार संपन्न वर्गों के निरंतर कपट और शोषण के शिकार हैं। जब न्यायालय पी आई एल को स्वीकार करता है तो वह इसे छिद्रान्वेषण करने या संघर्षात्मक मनोवृत्ति से या कार्यपालिका की आलोचना करने अथवा अधिकार ग्रहण करने के लिए स्वीकार नहीं करता अपितु उसका प्रयास अवंचितों और असमर्थों के लाभ के लिए बनाए गए सामाजिक और आर्थिक रक्षा कार्यक्रमों, कानूनों तथा यहाँ तक कि कार्यपालिका को देखना तथा हमारे संविधान और कार्यपालिका के मुख्य दायित्व मानवाधिकार के उल्लंघन के विरुद्ध उन्हें सुरक्षा प्रदान करना है। इस प्रकार न्यायालय केवल संवैधानिक उद्देश्यों को पूरा करने में सहायता प्रदान करता है। (*बंधन मुक्ति मोर्चा* बनाम *भारत सरकार*, ए आई आर, 1984 एस.सी. 802) पारम्परिक वाद समाधान प्रणाली से भिन्न पी आई एल में व्यक्ति के अधिकारों के बारे में कोई निर्धारण या निर्णय नहीं होता। जबकि साधारण

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

प्रकार न्यायालय केवल संवैधानिक उद्देश्यों को पूरा करने में सहायता प्रद
करता है। (*बंधन मुक्ति मोर्चा* बनाम *भारत सरकार*, ए आई आर, 1984 एस.सी. 802) पारम्परिक वाद समाधान प्रणाली से भिन्न पी आई एल में व्यक्ति के अधिकारों के बारे में कोई निर्धारण या निर्णय नहीं होता। जबकि साधारण पारम्परिक निर्णय में केवल द्विपक्षीय संरचना होती है और अतीत की घटनाओं के कानूनी परिणामों के निर्धारण में मतभेद बना रहता है तथा उपाय अनिवार्यतः पक्षों की व्यूह रचना के तर्क से संबंधित और सीमित होते हैं। जनहित कार्यों में

कार्रवाई को छोटा किया जाता है तथा पारम्परिक स्वरूप और निषेधों से परे होती है। संवैधानिक प्रस्तावना में वर्णित सामाजिक और आर्थिक रूपांतरण के जनहित कार्य की तकनीक के न्यायिक प्रवर्तन को समानतावादी समाज और कल्याणकारी राज्य में परिवर्तित करने की आवश्यकता है। (बक्शी, 2000: 189-193)

पी आई एल के आवश्यक तत्व

पी आई एल के पीछे मुख्य धारणा यह थी कि यदि कमज़ोर और निर्धन नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाता है तो समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन न्यायालयों के न्याय के माध्यम से होंगे। पी आई एल के रचनाकारों द्वारा निर्धारित नई तकनीकों से देश की न्याय प्रणाली में व्यापक परिवर्तन होंगे। सार्वजनिक संगठनों की स्वामी जनता होती है और इनका संचालन करने वाले जनता के प्रति जिम्मेदार होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की संसद के प्रति जिम्मेदारी प्रभावहीन रही है। ऐसे हालातों में न्यायालय का हस्तक्षेप करने का कर्त्तव्य हो जाता है। (*उर्वरक निगम* बनाम *भारत संघ*, ए आई आर, 1981 एस.सी. 434)

पी आई एल में तीन नए तत्व शामिल किए गए हैं: (क) "सुने जाने का अधिकार" से संबंधित कानून में लचीलापन, (ख) पी आई एल याचिकाएँ स्वीकार करने में सरल प्रक्रिया अपनाना, (ग) संविधान के अनुच्छेद 14, 21 तथा 32 के अभिप्राय और दायरे का विस्तार करना।

एस.पी. गुप्ता के मामले में न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती द्वारा पी आई एल के वर्णित आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं:

क) किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग के प्रति कानून के उल्लंघन

कार्रवाई को छोटा किया जाता है तथा पारम्परिक स्वरूप और निषेधों से परे होती है। संवैधानिक प्रस्तावना में वर्णित सामाजिक और आर्थिक रूपांतरण के जनहित कार्य की तकनीक के न्यायिक प्रवर्तन को समानतावादी समाज और कल्याणकारी राज्य में परिवर्तित करने की आवश्यकता है। (बक्शी, 2000: 189-193)

पी आई एल के आवश्यक तत्व

पी आई एल के पीछे मुख्य धारणा यह थी कि यदि कमज़ोर और निर्धन नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाता है तो समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन न्यायालयों के न्याय के माध्यम से होंगे। पी आई एल के रचनाकारों द्वारा निर्धारित नई तकनीकों से देश की न्याय प्रणाली में व्यापक परिवर्तन होंगे। सार्वजनिक संगठनों की स्वामी जनता होती है और इनका संचालन करने वाले जनता के प्रति जिम्मेदार होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की संसद के प्रति जिम्मेदारी प्रभावहीन रही है। ऐसे हालातों में न्यायालय का हस्तक्षेप करने का कर्त्तव्य हो जाता है। (*उर्वरक निगम* बनाम *भारत संघ*, ए आई आर, 1981 एस.सी. 434)

पी आई एल में तीन नए तत्व शामिल किए गए हैं: (क) "सुने जाने का अधिकार" से संबंधित कानून में लचीलापन, (ख) पी आई एल याचिकाएँ स्वीकार करने में सरल प्रक्रिया अपनाना, (ग) संविधान के अनुच्छेद 14, 21 तथा 32 के अभिप्राय और दायरे का विस्तार करना।

एस.पी. गुप्ता के मामले में न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती द्वारा पी आई एल के वर्णित आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं:

क) किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग के प्रति कानून के उल्लंघन या ग़ैर-कानूनी अधिकार से होने वाली हानि का कोई कानूनी दोष वाला कारण होना चाहिए।

ख) दोष किसी संवैधानिक या कानूनी अधिकार के उल्लंघन के कारण हो।

ग) अपकृत व्यक्ति (व्यतियों का निश्चित वर्ग), (i) निर्धनता, (ii) असहायता, या (iii) सामाजिक या आर्थिक अक्षमता या सामाजिक अथवा आर्थिक रूप से अभावग्रस्तता के कारण न्याय के लिए न्यायालय पहुँचने में असमर्थ हो।

11:29

44

घ) यदि उपर्युक्त शर्तें संतोषजनक हैं तो जनता को कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त दोष के लिए न्याय प्राप्त कर सकता है।

ङ) लेकिन अदालत को यह सुनिश्चित करने के लिए विचार करना चाहिए कि सार्वजनिक समस्या के लिए सद्भावना पूर्ण कार्य करने के लिए कार्रवाई आरंभ करने वाला व्यक्ति वैयक्तिक लाभ या किसी दुर्भावपूर्ण उद्देश्यों के लिए तो यह कार्य नहीं कर रहा।

च) यदि पी आई एल के लिए अन्य प्रकार से मामला उपयुक्त है तो न्यायालय को संबोधित एक पत्र लिखते मात्र से ही न्यायालय कार्रवाई कर सकता है। (*एस.सी. गुप्ता* बनाम *भारत संघ*, ए आई आर, 1982, एस.सी. 149)

संवैधानिक प्रावधान

भारत के संविधान के भाग III में मूल अधिकारों की तथा भाग IV में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों की नई उदार व्याख्या ने पी आई एल के वर्तमान आंदोलन के लिए अत्यधिक दबाव उत्पन्न किया। ये दबाव क्रांति दस्तावेज़ जैसे अमेरिकन बिल ऑफ राइट्स (अमेरिका का अधिकार न्यायालय) तथा मानवाधिकार की विश्व घोषणा से उत्पन्न हुए। संविधान के अनुच्छेद 32 तथा 226 कभी भी मूल अधिकारों के हनन होने पर किसी भी नागरिक को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालयों में जाने का अधिकार प्रदान करते हैं।

अनुच्छेद 32 (1) मूल अधिकारों के कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त कार्रवाई के द्वारा उच्चतम न्यायालय जाने का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 32(2) वर्णन करता है कि उच्चतम न्यायालय को संविधान के भाग III द्वारा प्रदत्त किसी भी अधिकार के कार्यान्वयन के लिए बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (*habeas corpus*), परमादेश (*mandamus*), निषेध (prohibition), अधिकार पृच्छा (*quo warranto*), उत्प्रेषण (*certiorari*) में से जो भी उपयुक्त के रूप में निर्देश या आदेश या परमादेश जारी करने का अधिकार होगा।

अनुच्छेद 226 वर्णन करता है कि अनुच्छेद 32 में निर्धारित किसी चीज के होते हुए भी प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने न्यायाधिकार क्षेत्र से संबंधित संपूर्ण प्रदेश में भाग III द्वारा प्रदत्त (मूल अधिकार) अधिकारों और अन्य किसी उद्देश्य को लागू

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:29

44

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

करने के लिए किसी भी व्यक्ति या अधिकारी को बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (*habeas corpus*), परमादेश (*mandamus*), निषेध (prohibition), अधिकार पृच्छा (*quo warranto*), तथा उत्प्रेषण (*certiorari*) के रूप में सभी या इनमें से कोई भी जारी करने का अधिकार होगा।

मूल अधिकारों के कार्यान्वयन के लिए परमादेश, आदेश या निर्देश जारी करने का उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को एक समान अधिकार प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय ने समाज के कमज़ोर वर्गों के पक्ष में मूल अधिकारों के अभिप्राय और दायरे को व्यापक बना दिया है। संविधान के अनुच्छेद 14, 21 तथा 32 के अभिप्राय और दायरे की कमज़ोर वर्गों के पक्ष में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक व्याख्या की गई है। जीवन के अधिकार की व्याख्या जीवन यापन के एक साधन के रूप में भी की गई है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 14 के द्वारा कानून के अंतर्गत समानता के अधिकार की व्याख्या किसी भी निर्णय निर्माण में कार्यपालिका और प्रशासनिक निरंकुशता के विरुद्ध अधिकार प्रदान करने के लिए की गई है।

'सुने जाने का अधिकार' की नई व्याख्या

लैटिन शब्द "*locus standi*" कानूनी अदालत में मुकदमा दायर करने या आवेदन करने के व्यक्ति के कानूनी अधिकार को अभिव्यक्त करते हैं। सुने जाने का अधिकार की पारम्परिक एंग्लो सेक्शन (अंग्रेजी खण्ड) के अनुसार केवल वही व्यक्ति न्यायिक समाधान के लिए मुकदमा कर सकता है जिसके अधिकारों का उल्लंघन हुआ है। उसकी तरफ से अन्य कोई व्यक्ति याचिका दायर नहीं कर सकता। यह सिद्धान्त उस समय विकसित हुआ था जब न्यायालय मुख्यतः व्यक्ति के अधिकारों से सरोकार रखते थे। "सुने जाने का अधिकार" (अधिकारिता) का प्राचीन सिद्धान्त विकासशील समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अपर्याप्त माना गया। सामूहिक अधिकारों के आधुनिक काल में निर्धन लोगों को न्याय उपलब्ध कराने के लिए "सुने जाने का अधिकार" (अधिकारिता) की व्याख्या में परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव की गई। उच्चतम न्यायालय द्वारा इस सिद्धान्त की दी गई नई व्याख्या के अनुसार जब किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के किसी वर्ग के अधिकारों का उल्लंघन होता है और निर्धनता या अक्षमता के कारण वे स्वयं न्यायालय जाने में असमर्थ हैं तो लोकहित विचारवाला

कोई व्यक्ति या संस्था प्रतिशोध के कारण नहीं अपितु सद्भावनापूर्वक कार्य करते हुए न्याय प्राप्त करने के लिए न्यायालय जा सकता है।

"सुने जाने का अधिकार" (अधिकारिता) के कठोर नियम को पहली बार *एस.सी. गुप्ता* बनाम *भारत संघ*, (ए आई आर, 1982, एस.सी. 149) में लचीला बनाया गया। सात न्यायाधीशों की गठित पीठ ने बहुमत से निर्णय दिया कि कोई भी नागरिक सद्भावना से कार्य करते हुए जनता के साथ होने वाले गलत कार्य या अन्याय के समाधान के लिए कार्य करने में रुचि रखता है लेकिन वह हस्तक्षेप या मध्यस्थता करने वाला अथवा उसमें लिप्त नहीं है, न्यायालय जा सकता है। जब ऐसा कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के उस वर्ग की तरफ से याचिका दायर करता है जिसके साथ कानून न गलत हुआ है और वह निर्धनता, असहायता या सामाजिक रूप से पिछड़ेपन के कारण स्वयं अदालत नहीं जा सकते तो न्यायालय कठोर प्रक्रिया पर जोर नहीं देता।

"सुने जाने का अधिकार" (अधिकारिता) के विषय से संबंधित इस निर्णय का महत्वपूर्ण भाग यह है कि अब इसे सुस्थापित होने के रूप में माना जा सकता है कि जहाँ किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग के साथ किसी संवैधानिक या कानूनी अधिकार के उल्लंघन के कारण कोई कानूनी गलती या अन्याय होता है अथवा किसी संवैधानिक या कानूनी प्रावधान के विपरीत या ग़ैर-कानूनी अधिकार से कोई अन्याय थोपा जाता है अथवा किसी कानूनी गलती या कानूनी अन्याय या ग़ैर-कानूनी अन्याय का भय है और ऐसा व्यक्ति या व्यक्तियों का निश्चित वर्ग निर्धनता, असहायता या अक्षमता या सामाजिक अथवा आर्थिक अभावग्रस्त स्थिति के कारण न्याय के लिए स्वयं अदालत जाने में असमर्थ है तो कोई भी नागरिक अनुच्छेद 226 के अंतर्गत और ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग के मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामले में उसी अदालत में अनुच्छेद 32 के अंतर्गत उपयुक्त कार्रवाई, आदेश या परमादेश के लिए आवेदन कर सकता है ताकि वह ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग के लिए कानूनी गलती अथवा अन्याय के लिए न्यायिक सहायता प्राप्त कर सके।"

"सुने जाने का अधिकार" (अधिकारिता) के संबंध में न्यायाधीशों के स्थानांतरण मामले में (*एस.सी. गुप्ता* बनाम *भारत संघ*, ए आई आर, 1982, एस.सी. 149 और (1994) 4 एस सी सी 305) में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि

11:29
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

पर्याप्त रुचि रखने वाला कोई भी नागरिक अन्य व्यक्तियों के संवैधानिक और कानूनी अधिकार लागू करने तथा सामान्य कष्टों के निवारण हेतु न्यायालय जा सकता है।

पी आई एल के लिए अयोग्य व्यक्ति

निम्नलिखित व्यक्ति पी आई एल मामला दायर करने के पात्र नहीं हैं: (क) पर्याप्त लोक रुचि के अभाव वाले व्यक्ति; (ख) वैयक्तिक लाभ या उपलब्धि के लिए कार्य करने वाले व्यक्ति; (ग) राजनीति करने वाले व्यक्ति; और (घ) दुर्भावना रखने वाले व्यक्ति।

कोई तीसरा पक्ष जो अभियुक्त को सजा होने वाले मुकदमे में अजनबी है वह पी आई एल के माध्यम से मुकदमें तथा अभियुक्तों को दी गई सजा को चुनौती देने का 'सुने जाने का अधिकार' (अधिकारिता) (locus standi) नहीं रखता। यह निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा *सिमरनजीत सिंह मान* बनाम *भारत संघ*, 1992 (4) एस.सी. 65 मामले में दिया गया। इस मामले में जनरल वैद्य के दो हत्यारों को उसकी हत्या का दोषी पाया गया था। उन्हें मृत्यु दंड दिया गया था जिसकी पुष्टि उच्चतम न्यायालय ने की थी। अकाली दल के अध्यक्ष ने अनुच्छेद 32 के अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद 22, 21 तथा 14 का उल्लंघन होने के आधार पर मुकदमें और सजा को पी आई एल दायर करके चुनौती दी थी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि याचिकाकर्ता को याचिका दायर करने का सुने जाने का अधिकार (अधिकारिता) (*locus standi*) नहीं है क्योंकि वह मुकदमे में एकदम अजनबी है और इससे भी अधिक अभियुक्तों ने भी उसे अधिकृत नहीं किया है। 'सुने जाने का अधिकार' के बारे में उच्चतम न्यायालय के लचीले विचारों के बारे में कुछ लोगों को भय था कि इससे न्यायालय में याचिकाओं की बाढ़ सी आ जाएगी अतः इन्हें बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त आलोचना के संदर्भ में उच्चतम न्यायालय ने घोषणा की कि "किसी भी राज्य को अपने नागरिकों को यह बताने का अधिकार नहीं है कि हमारी अदालतों में धनी व्यक्तियों के काफी संख्या में मामले लंबित पड़े हैं इसलिए हम जब तक धनी वकील रख सकने वाले व्यक्तियों के मामले के बोझ को हल्का नहीं कर लेते तब तक न्याय प्राप्त करने के लिए अदालत आने वाले निर्धन लोगों की सहायता नहीं कर पाएँगे।" (ए आई आर 1983 एस सी 339)

पी आई एल से संबंधित मुद्दे

पी आई एल के लिए निम्नलिखित विषय लिए जा सकते हैं:

1) मूलभूत सुविधाएँ जैसे सड़क, जल, औषधियाँ, विद्युत, प्राथमिक विद्यालय, प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र, बाल सेवा आदि।
2) विस्थापित व्यक्तियों का पुनर्वास
3) बंधुआ और बाल श्रमिकों की पहचान और पुनर्वास
4) अवैध कैद और हिरासत
5) पुलिस हिरासत में लोगों का उत्पीड़न
6) हिरासत में मृत्यु
7) कैदियों के अधिकारों की रक्षा
8) जेल सुधार
9) विचाराधीन मामलों की शीघ्र जाँच
10) एस.सी./एस.टी. वर्गों के विरुद्ध अत्याचार
11) सरकारी कल्याण गृहों में निवासियों की उपेक्षा
12) हिरासत में बच्चे
13) बच्चों का गोद लेना
14) सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप
15) कानून और व्यवस्था बनाए रखना
16. न्यूनतम मज़दूरी का भुगतान
17) निर्धन व्यक्तियों को कानूनी सहायता

11:29

44

18) भूखमरी

19) अभद्र दूरदर्शन कार्यक्रम

20) पर्यावरण प्रदूषण

21) बस्तियों से निर्धन लोगों का अनधिकृत विस्थापन

22) कल्याण कानूनों को लागू करना

23) कमज़ोर वर्गों के मूल अधिकारों का उल्लंघन।

इसके अतिरिक्त मानवाधिकारों के उल्लंघन या हनन में भी पी आई एल दायर की जा सकती है।

पी आई एल के उदाहरण

इस विषय में अनेक मामलों में से निम्नलिखित मामले अध्ययन करने लायक हैं:

i) *एस.सी. गुप्ता* बनाम *भारत संघ,* ए आई आर 1982, एस.सी. 149, 194 क्षेत्र और बुनियादी दृष्टिकोण।

ii) *डी.सी. वधवा* बनाम *बिहार राज्य,* ए आई आर 1987, एस.सी. 579 (सुने जाने का अधिकार)

iii) *रतलाम नगरपालिका* बनाम *वरदीचंद,* ए आई आर 1980, एस.सी. 1622 (सामान्य)

iv) *उर्वरक निगम* बनाम *भारत सरकार,* ए आई आर 1981, एस.सी. 344 (सुने जाने का अधिकार)

v) *लोकतांत्रिक अधिकार लोक यूनियन (Peoples Union for Democratic Rights)* बनाम *भारत सरकार,* ए आई आर 1982, एस.सी. 1473 (सामान्य)

vi) *हिमाचल प्रदेश राज्य* बनाम *अभिभावक,* ए आई आर 1985, एस.सी.

vii) *शिवाजी राव* बनाम *महेश,* ए आई आर 1985, एस.सी. 910 (स्वीकृत करने का तरीका)

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:29
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

1) श्रम कानूनों के अंतर्गत एशियाड श्रमिकों की अपने अधिकारों की माँग

दिल्ली प्रशासन ने 1981 में एशियाड़ परियोजनाओं के निर्माण हेतु ठेकेदारों के माध्यम से एक लाख से अधिक श्रमिकों को नियुक्त किया था। सरकारी एजेंसियों और ठेकेदारों ने संविदा श्रमिकों से संबंधित श्रम कानूनों के तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया। उन्हें न्यूनतम मज़दूरी तक नहीं दी गई। एक स्वच्छंद पत्रकार वी.टी. पदभनाथन की ठेकेदारों द्वारा उनके शोषण की *मेन स्ट्रीम* समाचार पत्र (अगस्त 1981) में प्रकाशित रिपोर्ट के साथ पीपल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स - पी. यू. डी. आर (People's Union for Democratic Rights – PUDR) के अध्यक्ष का पत्र उच्चतम न्यायालय को प्रेषित किया गया। न्यायालय ने पत्र को स्वीकार किया और एशियाई श्रमिकों की कार्य दशाओं के अध्ययन के लिए एक आयुक्त (लोकायुक्त) तैनात किया।

इस मामले में अदालत का निर्णय एक ऐतिहासिक निर्णय था जिसने सुने जाने का अधिकार, मूल अधिकारों तथा राज्य के दायित्वों का दायरा व्यापक बना दिया (*लोकतांत्रिक अधिकार लोक यूनियन* (*Peoples Union for Democratic Rights*) बनाम *भारत सरकार,* ए आई आर 1982, एस.सी. 1477)।

2) गुडलूर कृषकों का विस्थापन

एक स्थानीय वकील श्री. एम. जे. चेरियन ने कई सालों से अपनी भूमि में खेती करने वाले गुडलूर के निर्धन किसानों की तरफ से तमिलनाडू राज्य के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में एक पी आई एल दायर की। याचिकाकर्ता ने आरोप लगाया कि राज्य वन अधिनियम में वर्णित प्राकृतिक न्याय के नियमों का पालन किए बिना किसानों द्वारा कई वर्षों से की जा रही खेती की जमीन को खाली कराने का प्रयास किया जा रहा है। याचिका में कहा गया कि वन अधिकारी और पुलिस गुडलूर के किसानों पर अत्याचार कर रहे हैं।

उच्चतम न्यायालय ने एक अंतरिम आदेश के द्वारा फसलों को नष्ट करने तथा किसानों से जबरदस्ती जमीन खाली कराने के कार्य को रोक दिया। न्यायालय ने अंतिम आदेश दिया कि विवादित जमीनों के पट्टा स्वीकृत करने के किसानों के दावों की सक्षम अधिकारी द्वारा पुनः जाँच की जानी चाहिए। जिन किसानों के दावे प्रामाणिक नहीं थे वे मानवीय और क्षतिपूर्ति आधार पर अपना प्रतिवेदन

11:29
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

दे सकते थे। न्यायालय ने उनके मामलों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिए भी राज्य सरकार को आदेश दिया।

3) पिचोला बंधुआ श्रमिकों की मुक्ति

भिवानी जिले में पिचालो में कार्यरत लगभग चालीस बंधुआ श्रमिकों ने उच्चतम न्यायालय को पत्र लिख कर अपने रहने वाली जीवन की दयनीय अवस्था का वर्णन किया। उन्होंने लिखा कि, "हम सभी आदिवासी भील कठिन परिस्थितियों में रहते हैं हमें प्रतिदिन 3 से 5 रुपये मज़दूरी मिलती है जिससे केवल भोजन का राशन आता है। हमे तीन-चार दिनों में एक बार पीने का पानी मिलता है। हमारे झोपड़े जानवरों के झोपड़ों से भी गए गुजरे हैं। हम अब अपने आप यहाँ से जाना चाहते हैं लेकिन हमारे मालिक और उसके गुंडों ने हमें बताया है कि जब तक हम अपना कर्ज़ा जो प्रति परिवार 2200/- से 8000/- रुपये तक है चुकाए बिना यहाँ से नहीं जा सकते। हमारा मालिक हमारी झोपड़ियों में घूस आता है तथा जवान बेटियों से छेड़छाड़ करता है तथा उन्हें पीटता है। कृपया हमें बचाइए।" स्वामी अग्निवेश बंधुआ मुक्ति मोर्चा के अध्यक्ष ने इस पत्र को उच्चतम न्यायालय को भेजा था

न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती की अध्यक्षता वाली खंडपीठ ने इन श्रमिकों की दशा की जाँच करने तथा न्यायालय को रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए दो आयोगों की नियुक्ति की। आयुक्तों पर होने वाले खर्चों की पूर्ति कानूनी सहायता योजनाएँ लागू करने वाली समिति से की गई। न्यायालय के अंतरिम आदेशों के माध्यम से बंधुआ श्रमिकों के अनेक समूह ठेकेदारों द्वारा छोड़े गए।

4) हिरासत में हिंसा के विरुद्ध मामला

1983 में शीला बर्से (च्ष्ठ्ठक्ष्ठ व्ह्रद्दङ्क), एक प्रसिद्ध पत्रकार ने उच्चतम न्यायालय को एक पत्र लिखा जिसमें अपने बंबई राज्य में विचाराधीन महिलाओं के साथ पुलिस हिरासत में होने वाली हिंसा की शिकायत की। न्यायालय ने श्रीमती अर्मिती देसाई, निर्मला निकेतन, समाज कार्य महाविद्यालय को मामले की छान-बीन करने तथा रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए तैनात किया। श्रीमती देसाई की रिपोर्ट के आधार पर न्यायमूर्ति भगवती, न्यायमूर्ति आर. एस. पाठक तथा न्यायमूर्ति ए.एन. सेन की उच्चतम न्यायालय पीठ ने महाराष्ट्र राज्य को उत्पीड़न

और दुर्व्यवहार के विरुद्ध पुलिस हिरासत में कैदियों की सुरक्षा के लिए कदम उठाने के निर्देश जारी किए।

5) विचाराधीन बच्चों के शीघ्र जाँच की याचिका

1985 में दायर इस याचिका में शीला बर्से ने बच्चों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार को उज़ागर किया। याचिका में जेलों में रखे गए 1,400 बच्चों को रिहा करने की तथा विचाराधीन बच्चों की जाँच शीघ्र करने का अनुरोध किया गया। इसमें न्यायालय से एक समान बाल न्याय प्रणाली अपनाने का भी अनुरोध किया गया। इस विषय को मीडिया तथा पी.आई.एल. के माध्यम से उज़ागर करने का प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह निकला कि 1986 में बाल न्याय विधेयक पारित किया गया जिसमें बाल अपराधियों की जाँच के लिए एकीकृत कानूनी संरचना और राज्यों को मार्गदर्शन प्रदान किया गया। शैक्षिक और व्यावसायिक प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध कराते हुए बच्चों को जेल से निगरानी गृहों में स्थानांतरित करने का निर्णय भी राज्य स्तर पर लिया गया। (*शीला बर्से* बनाम *भारत सरकार,* ए आई आर, एस सी 2211)

6) हानिकारक औषधियों पर प्रतिबंध लगाना

डॉ. बिनसेंट पानिकुलंगरा, वकील तथा पब्लिक इंटेरस्ट लॉ सर्विस सोसाइटी (पी आई एल एस एस), कोचीन ने अप्रैल, 1983 में उच्चतम न्यायालय में हानिकारक और प्रभावहीन औषधियों पर प्रतिबंध लगाने के लिए याचिका दायर की। उसने बताया कि सरकार द्वारा नियुक्त समिति ने प्रायः सामान्य रूप से प्रयुक्त की जाने वाली कुछ औषधियों सहित औषधियों की 20 निश्चित मात्रा वाले मिश्रणों पर प्रतिबंध लगाने की सिफारिश की है। अनेक बीमारियों के संबंध में प्रयोग की जाने वाली लगभग 2000 औषधियों पर इसका प्रभाव पड़ना था। अन्य देशों में इनमें से कुछ औषधियों पर प्रतिबंध लगाया या बाज़ार से उन्हें हटाया जा चुका है फिर भी, बहुराष्ट्रीय औषधि निगमों की अनैतिक परम्परा के कारण ये हमारे देश में अभी भी विद्यमान हैं।

याचिकाकर्ता ने न्यायालय से हानिकारक या निष्प्रभावी पाई गई औषधियों पर इस आधार पर प्रतिबंध लगाने का अनुरोध किया कि बाज़ार में विद्यमान ऐसी औषधियाँ भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत जीवन के मूल अधिकार

11:29 44

को प्रभावित करती हैं। उसने यह भी बताया कि यद्यपि राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त किसी न्यायालय के द्वारा लागू नहीं किए जा सकते तो भी इनके विपरीत सरकारी कार्यों को न्यायिक कार्यों द्वारा रोका जा सकता है। न्यायालय ने इस आधार पर याचिका को निरस्त कर दिया कि औषधि नीति निर्धारित करने का कार्य सरकार का है।

फिर भी निर्णय में औषधि निर्माण नियंत्रण प्रणाली के लिए तथा दोषियों को सजा देने के लिए एक केन्द्रीय कार्यान्वयन प्रणाली स्थापना की सिफारिश की गई।

पी आई एल दायर करने की प्रक्रिया

जब कोई व्यक्ति जनहित याचिका लगाता है तो उसे अनुच्छेद 32 के अंतर्गत याचिका दायर करने की निर्धारित प्रक्रियाओं और औपचारिकताओं का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उच्चतम न्यायालय के अनुसार प्रक्रिया केवल न्याय की प्रथम प्रक्रिया है और न्याय का कारण कभी भी किसी प्रक्रियात्मक तकनीकों के द्वारा नष्ट करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

यह सत्य है कि अनुच्छेद 32 के अंतर्गत न्याय पाने के लिए न्यायालय में जाने की प्रक्रिया का निर्धारण करने के लिए स्वयं इस न्यायालय द्वारा कुछ नियम बनाए गए हैं और इस न्यायालय पहुँचने का प्रयास करने वाले व्यक्ति को विभिन्न औपचारिकताओं का पालन करना अनिवार्य है। लेकिन यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि प्रक्रिया न्याय की प्रथम प्रक्रिया है और न्याय के कारण को किसी औपचारिक तकनीकों के द्वारा कभी नष्ट करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। इसलिए न्यायालय निर्द्वंद्व और अपने विवेक के किंचित भी संदेह के बिना अपनी प्रबंधन शक्तियों के प्रयोग में प्रक्रिया के नियमों को एक तरफ रखकर लोक हित विचार वाले व्यक्तियों के पत्र को दायर याचिका के रूप में लेता है तथा इस पर कार्रवाई करता है।" (*एस.सी. गुप्ता* बनाम *भारत संघ*, ए आई आर, 1982, एस.सी. 149)

उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि उसे निर्धन वर्ग के मूल अधिकार लागू करने के लिए सामाजिक आयोगों को नियुक्त करने या कोई प्रक्रिया बनाने और उपयुक्त समझने वाले किसी साधन की रचना करने का अधिकार है। (ए आई आर, 1987, एस.सी. 1087)

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

अनुच्छेद 32 के अंतर्गत नागरिकों के मूल अधिकारों को लागू करने के लिए उच्चतम न्यायालय को असंख्य अधिकार हैं। *श्रीराम फूड्स एंड फर्टिलाइजर्स इंडस्ट्रीय* के मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि, "अनुच्छेद 32 मूल अधिकारों को लागू करने के लिए केवल निर्देश, आदेश या परमादेश जारी करने का अधिकार ही नहीं देता अपितु लोगों को मूल अधिकारों की रक्षा के लिए इस न्यायालय पर संवैधानिक दायित्व भी डालता है और इस उद्देश्य के लिए इस न्यायालय के पास प्रासंगिक और सहायक अधिकार है जिसमें मूल अधिकारों को लागू करने के लिए नए उपायों और परम्पराओं की रचना करने सहित नई कार्यनीतियाँ बनाना भी शामिल हैं। इस संवैधानिक दायित्व का अनुभव करते हुए इस न्यायालय ने नई पद्धतियों और कार्यनीतियाँ बनाई विशेषतः उन निर्धनों और अवंचितों के मूल अधिकार लागू करने के लिए जिन्हें उनके मानवाधिकारों से मना किया गया है और जिनके लिए स्वतंत्रता, और स्वाधीनता का कोई अर्थ नहीं है।"

पी आई एल उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय में निम्नलिखित तरीकों से दायर की जा सकती है:

- संबंधित न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को संबंधित तथ्यों और दस्तावेजों के साथ पंजीकृत पत्र याचिकाएँ भेजकर
- न्यायालय की निःशुल्क कानूनी सेवा समितियों के माध्यम से न्यायालयों में सीधे पी आई एल दायर करना।
- किसी वकील की सहायता से मामले को सीधे दायर करना
- ग़ैर-सरकारी संगठनों या पी आई एल फर्मों के माध्यम से मामला दायर करना।

पी आई एल दायर करते समय पालन किए जाने वाले बिन्दु

पी आई एल दायर करते समय निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया जाता है:

1) प्रभावित लोगों के साथ पूरी तरह कानूनी विषय की चर्चा करें।
2) ज्ञात करें कि क्या मामला लोगों के मूल अधिकार उल्लंघन का है या नहीं।

11:30

44

यह भी विनिर्दिष्ट करना महत्वपूर्ण है कि कौन से मूल अधिकार का अतिक्रमण हुआ है।

3) लोगों को यह निर्णय करने में सहायता करें कि क्या उनके अधिकार लागू करने या उनके अधिकारों के अतिक्रमण से बचाव के लिए कानूनी कार्रवाई न्यायालय में करनी चाहिए।

4) सभी तथ्यों, विवरणों और तिथियों आदि के साथ याचिका लिखें।

5) लोगों को कैसा न्याय चाहिए याचिका में इसका वर्णन करें।

6) यदि संभव हो तो सभी प्रभावित व्यक्तियों के हस्ताक्षर करा लें।

7) मामले से संबंधित उपलब्ध सभी दस्तावेज़, समाचार-पत्रों की कतरनें, फोटोचित्र, जाँच रिपोर्टें, प्रमाणपत्र और शपथपत्र एकत्रित करें तथा परिशिष्ट के रूप में मुख्य याचिका के साथ संलग्न करें।

8) यदि संभव हो तो याचिका भेजने से पूर्व सामाजिक चेतना वाले किसी वकील या स्थानीय कानूनी सहायता सोसायटी के सदस्य से सलाह करें।

9) पंजीकृत याचिका संबंधित उच्च न्यायालय के उच्च न्यायालय कानूनी सेवा समिति के अध्यक्ष या उच्चतम न्यायालय कानूनी सेवा समिति, नई दिल्ली 110001, के अध्यक्ष को भेजें।

महत्वपूर्ण कानूनी शब्दों की व्याख्या

1) मूल अधिकार

ये भारतीय संविधान के भाग III में प्रत्येक नागरिक को प्रदान किए गए मूल अधिकार हैं। कानून के अंतर्गत इन मूल अधिकारों को विशेष महत्व दिया जाता है। ये साधारण अधिकारों से भिन्न हैं। प्राप्त साधारण अधिकारों को कानून से कम किया जा सकता है रद्द किया जा सकता है तथा निरस्त किया जा सकता है लेकिन विधान पालिका के अधिकारों के प्रयोग से बनाए गए कानूनों के कानूनी हस्तक्षेप से मूल अधिकार सुरक्षित रहते हैं। मूल अधिकारों के प्रतिकूल या असंगत कानूनों को रद्द कर दिया जाता है। मूल अधिकारों में संशोधन या परिवर्तन केवल संविधान में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है।

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:30

44

2) **राज्य की नीति के निदेशक तत्व**

ये संविधान के भाग IV में सरकार की नीतियों को संचालित करने के लिए तत्व के रूप में वर्णित मार्गदर्शी तत्व है। इनका उद्देश्य कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए पर्याप्त कानून और योजनाएँ बनाने में मार्गदर्शन प्रदान करना है। ये देश के संचालन में मूल तत्व हैं।

3) **संवैधानिक अदालतें**

भारत का उच्चतम न्यायालय तथा सभी उच्च न्यायालय संवैधानिक अदालतें हैं। उन्हें मूल अधिकारों और अन्य संवैधानिक मामलों का न्यायाधिकार है।

4) **रिट्स**

एक न्यायिक प्रक्रिया जिसके द्वारा उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा किसी को भी कुछ कार्य करने के लिए बुलाया जा सकता है। इन अदालतों को बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेध, अधिकार पृच्छा और निम्नलिखित के लिए उत्प्रेषण या अन्य किसी रूप में निर्देश या आदेश या परमादेश जारी करने का अधिकार है:

क) मूल अधिकार कार्यान्वयन के लिए।

ख) कानून या किसी अन्य साधन से संविधान के प्रावधानों या किसी अन्य कानून, अध्यादेश, आदेश, नियम, विनियम के उल्लंघन से महत्वपूर्ण क्षति को दूर करने के लिए।

ग) न्याय की चूक के परिणामस्वरूप किसी कार्रवाई के द्वारा किसी अधिकारी के सामने अवैधता के कारण किसी क्षति को पूरा करने के लिए

5) **याचिका**

इसका अर्थ है सक्षम न्यायालय में दायर किया जाने वाला कानूनी मुकदमा।

6) **कानूनी अधिकार**

कानूनी अधिकार वह हित, प्रदत्त लाभ या सुविधा है जो व्यक्ति को कानूनन प्राप्त है, कानून या कानूनन सिद्धान्त के द्वारा मान्य या सुरक्षित है तथा जिसका सम्मान

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:30 44

करना सबका कर्त्तव्य है तथा इसका अपमान करना अपराध है। इससे व्यक्ति में अधिकार धारण करने, तथा किसी विशेष उद्देश्य के संदर्भ में राज्य की सहमति और सहायता से दूसरों के कार्य नियंत्रित करने की क्षमता उत्पन्न की जाती है।

7) लोक अदालत

लोक अदालत (जनता की अदालत) यथाशीघ्र मामलों को निपटाने के लिए कानून द्वारा निर्मित न्यायिक संस्था है। इस प्रशासनिक संस्था को ऐसे वादों के संबंधित पक्षों में समझौता या शांतिपूर्वक समायोजन कराने का अधिकार प्राप्त है जो समझौता कराने वाले होते हैं। किसी अदालत में पड़ा लंबित मामला लोक अदालत द्वारा निर्णय किए जाने के लिए उपयुक्त समझने पर उसे स्थानांतरित किया जा सकता है। लोक अदालत अपनी प्रक्रियाओं का पालन कर सकती है लेकिन निर्णय करने में इसे न्याय के सिद्धान्तों, समानता, उचित कार्य और अन्य कानूनी सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए।

लोक अदालत के निर्णय को दीवानी अदालत के आदेश के रूप में माना जाता है। लोक अदालत में विवादों के निपटाने के लिए पक्षों को अदालत शुल्क देने की आवश्यकता नहीं होती।

8) निःशुल्क कानूनी सेवाएँ

निःशुल्क कानूनी सेवाओं का अर्थ है भारतीय संविधान के द्वारा विशेषतः अनुच्छेद 14 और 21 के अंतर्गत समाज के कमज़ोर वर्गों को समान न्याय प्रदान करने के लिए किसी भी कानूनी कार्रवाई में सहायता, आर्थिक मदद और सलाह प्रदान करना।

सारांश

भारतीय संविधान के भाग III में प्रत्येक नागरिक को मूल अधिकार प्रदान किए गए हैं। व्यक्ति के समग्र विकास के लिए इन अधिकारों का होना आवश्यक है। इन अधिकारों को लागू करने का दायित्व राज्य का है। जब राज्य और इसकी एजेंसियों के द्वारा इन अधिकारों का उल्लंघन किया जाता है तो नागरिकों को

19

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:32
44

Daily Notes
DATE

लोक प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण Judicial Control Over Public Administration

"प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण संसदीय नियंत्रण का प्रतिस्थानिक नही हैं। वास्तव मे वे दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, किन्तु ये दोनो भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्देश्यों को पूरा करते है।"

प्रशासन पर न्यायपालिका का नियंत्रण उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रशासन पर विधायिका का नियंत्रण। न्यायालय जनता के अधिकारो तथा स्वतंत्रता के रक्षक है। इनके द्वारा किए गए नियंत्रण को 'कानूनी प्रतिकार' कहा जाता है। वास्तव में, प्रशासनिक अधिकारियों का न्यायालयों के प्रति जो उत्तरदायित्व है, वही दूसरे रुप मे, 'कानूनी प्रतिकार' है। जब भी सरकारी अधिकारी अनाचार करता है या अपने अधिकारो का दुरुपयोग करता है, कोई भी नागरिक न्यायलयों मे उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है।

लोक प्रशासकों की स्वेच्छाचारिता पर न्यायालय अपना अंकुश और नियंत्रण कुछ निर्धारित नियमो के अनुसार कुछ निश्चित सीमाओं, परिस्थितियों तथा शर्तों मे ही रख सकते हैं। इसकी एक बड़ी शर्त यह है कि न्यायालय अपनी इच्छा से प्रशासन के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते, वे सत्ता के दुरुपयोग से नागरिको को तब तक नहीं बचा सकते है, जब तक कोई व्यक्ति, समूह या संस्था न्यायालय में आवेदन-पत्र देकर उससे इस आधार पर हस्तक्षेप करने की प्रार्थना न करे कि सरकारी अधिकारियो के किसी कार्य से उसके अधिकारो का अतिक्रमण या हनन हुआ है अथवा ऐसा होने की सम्भावना है।

न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किए जाने की परिस्थितियाँ

न्यायालय केवल निम्नलिखित पाँच परिस्थितियों में प्रशासन द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियों मे हस्तक्षेप कर

Scanned with CamScanner

Daily Notes
DATE

सकते हैं:-

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

जब तक कोई व्यक्ति, समूह या संस्था न्यायालय में आवेदन - पत्र देकर उससे इस आधार पर हस्तक्षेप करने की प्रार्थना न करे कि सरकारी अधिकारियो के किसी कार्य से उसके अधिकारों का अतिक्रमण या हनन हुआ है अथवा ऐसा होने की सम्भावना है।

न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किए जाने की परिस्थितियाँ

Convert this document and share it as an image

Share

Daily Notes

DATE

सकते हैं:-

1) जब प्रशासनिक अधिकारी अधिकार क्षेत्र न होने की दशा में कार्य
2) जब प्रशासक अपने विवेक का दुरुपयोग करे
3) जब प्रशासनिक अधिकारी अपने कार्य में कोई कानूनी गलती करे।
4) जब प्रशासनिक अधिकारी अपने कार्य में किन्हीं तथ्यों का पता लगाने में कोई त्रुटि करे।
5) जब प्रशासनिक अधिकारी अपने कार्य में कोई प्रक्रिया संबंधी गलती करें।

न्यायिक नियंत्रण का क्षेत्र Scope of Judicial Control

कोई भी प्रशासनिक संस्था या प्राधिकारी मनमाने ढंग से व्यवहार नहीं कर सकता है और न ही किसी व्यक्ति के विधिसम्मत अधिकारों का उल्लंघन कर सकता है। निम्नांकित परिस्थितियों में न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है:-

- अधिकार क्षेत्र का अभाव (Lack of Jurisdiction) - इसका अभिप्राय प्रशासकों द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र या भौगोलिक सीमा के बाहर कोई कार्य करना है, यदि इससे किसी नागरिक के अधिकार को हानि पहुँचती है तो वह इसके परित्राण परित्राण के लिए न्यायालय की शरण लेता है। यदि न्यायालय में उपस्थित किए जाने वाले प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाए कि वह कार्य प्रशासनिक अधिकारी के अधिकार क्षेत्र में नहीं था तो वह इस कार्य को अधिकारातीत (ultra vires) होने अर्थात् अधिकारी के अधिकार क्षेत्र से बाहर होने के कारण अवैध घोषित करता है। इस प्रकार न्यायालयों को ऐसी परिस्थितियों में प्रशासन के कार्यों की समीक्षा करने का अधिकार होता है और इसे 'न्यायिक समीक्षा का सिद्धांत' Doctrine of Judicial Review कहा जाता है। यह सिद्धांत उन देशों में प्रचलित है, जहाँ संविधान को सर्वोच्च माना जाता है। भारत और अमरीका में संविधान देश का सर्वोच्च कानून माना जाता है और इन देशों में

Scanned with CamScanner

Daily Notes

DATE

सरकारी अधिकारियों के सभी कार्य संविधान के अनुकूल होने चाहिए।

- विवेक का अनुचित प्रयोग (Abuse of Discretion) - यदि कोई प्रशासनिक अधिकारी अपनी सत्ता का प्रयोग बदले की भावना से अपने विरोधी को हानि पहुँचाने के लिए करता है तो हानि उठाने वाला व्यक्ति न्यायालय में जाकर सरकारी अधिकारी के आदेश को

न्यायिक समीक्षा का सिद्धांत Doctrine of Judicial Review कहा जाता है। यह सिद्धांत उन देशों में प्रचलित है, जहाँ संविधान को सर्वोच्च माना जाता है। भारत और अमरीका में संविधान देश का सर्वोच्च कानून माना जाता है और इन देशों में

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

सरकारी अधिकारियों के सभी कार्य संविधान के अनुकूल होने चाहिए।

- विवेक का अनुचित प्रयोग (Abuse of Discretion) - यदि कोई प्रशासनिक अधिकारी अपनी सत्ता का प्रयोग बदले की भावना से अपने विरोधी को हानि पहुँचाने के लिए करता है तो हानि उठाने वाला व्यक्ति न्यायालय में जाकर सरकारी अधिकारी के आदेश को रद्द करा सकता है।
- विधि संबंधी त्रुटि (Error of Law) - जब सरकारी अधिकारी किसी कानून को गलत रूप में समझते हुए नागरिकों पर ऐसे दायित्व और बंधन लगाते हैं, जो वस्तुतः कानून की दृष्टि से सही नहीं है तो न्यायालय सरकारी अधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करके ऐसी गलतियाँ दूर करते हुए नागरिक के अधिकारों की रक्षा करते हैं।
- तथ्य का पता लगाने में त्रुटि (Error in Finding of Fact) - यदि कोई सरकारी अधिकारी अपने किसी प्रशासनिक कार्य में तथ्य को अच्छी तरह से पता लगाए बिना किसी नागरिक को उसे हानि पहुँचाने वाला कोई आदेश देता है तो नागरिक अपने अधिकार की रक्षा के लिए न्यायालय की सहायता ले सकता है।
- प्रक्रिया संबंधी त्रुटि (Error of Procedure) - न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे इस बात को भी देखें कि सरकारी अधिकारी शासन करते हुए समुचित प्रक्रिया के अनुसार सारा कार्य करें। यदि वे कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार कार्य नहीं करते हैं और किसी व्यक्ति को सरकारी अधिकारी के ऐसे कार्य से हानि पहुँचती है तो न्यायालय उसकी रक्षा करते हैं।

क्या कोई नागरिक सरकार पर मुकदमा चला सकता है?
Can a Citizen sue the Government?

लोक प्रशासन में यह प्रश्न अत्यधिक महत्व का है कि यदि किसी सरकारी अधिकारी की किसी कार्यवाही में किसी नागरिक को क्षति पहुँचती हो, अथवा उसके साथ अन्याय हो तो क्या वह सरकार और उस पदाधिकारी के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकता है?

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

इंग्लैण्ड में परम्परा यह रही है कि सम्राट की किसी भी कार्यवाही को वैधानिक उत्तरदायित्व से उन्मुक्त रखा गया है। सम्राट कोई गलती नहीं कर सकता, अतः किसी भी न्यायालय में उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। वह कानून के ऊपर है। भारत में राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपालों को संविधान में उल्लेखित अपनी शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में अपने द्वारा किए गए किसी कार्य के लिए कानूनी दायित्व से उन्मुक्त रखा गया है। राष्ट्रपति पर संसद द्वारा दोषारोपण किया जा सकता है। मंत्रियों को

करते हैं।

क्या कोई नागरिक सरकार पर मुकदमा चला सकता है?
Can a Citizen sue the Government?

लोक प्रशासन में यह प्रश्न अत्यधिक महत्व का है कि यदि किसी सरकारी अधिकारी की किसी कार्यवाही में किसी नागरिक को क्षति पहुँचती हो, अथवा उसके साथ अन्याय हो तो क्या वह सरकार और उस पदाधिकारी के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकता है?

Scanned with CamScanner

इंग्लैण्ड में परम्परा यह रही है कि सम्राट को किसी भी कार्यवाही के वैधानिक उत्तरदायित्व से उन्मुक्त रखा गया है। सम्राट कोई गलती नहीं कर सकता, अतः किसी भी न्यायालय में उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। वह कानून के ऊपर है। भारत में राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपालों को संविधान में उल्लेखित अपनी शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में अपने द्वारा किए गए किसी कार्य के लिए कानूनी दायित्व से उन्मुक्त रखा गया है। राष्ट्रपति पर संसद द्वारा दोषारोपण किया जा सकता है। मंत्रियों को उन्मुक्ति या विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। भारत में प्रशासनिक कर्मचारियों के विरुद्ध व्यक्तिगत नागरिकों द्वारा मुकदमा दायर किया जा सकता है। प्रशासनिक अधिकारियों को निम्नलिखित कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। दिए गए कार्यों को न करना अथवा असावधानी से करना या जान-बूझकर कोई अवैध कार्य करके किसी को हानि पहुँचाना। भारत में सरकारी ठेकों अथवा संविदाओं की स्थिति को छोड़कर, सरकारी अधिकारियों की उत्तरदायिता वैसी ही है जैसी कि सामान्य व्यक्तियों की है। किसी भी सरकारी अधिकारी द्वारा शासकीय क्षमता के अन्तर्गत किए गए कार्य के संबंध में, दो माह की सूचना देने के पश्चात् उसके विरुद्ध सिविल कार्यवाहियाँ संस्थित की जा सकती हैं। जहाँ तक फौजदारी कार्यवाही का संबंध है, सरकार की पूर्वानुमति लेकर सरकारी अधिकारी के विरुद्ध कार्यवाहियाँ प्रारंभ की जा सकती हैं।

न्यायिक नियंत्रण के साधन The Ways And Means Of Judicial Control

प्रशासनिक अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता तथा अवैध कार्यों से नागरिकों की रक्षा करने के लिए दो प्रकार की कानूनी पद्धतियाँ हैं :-

I विधि के शासन की पद्धति (Rule of Law System)
II प्रशासनिक कानून की पद्धति (Administrative Law System)

पहली पद्धति इंग्लैण्ड में विद्यमान है और दूसरी पद्धति फ्रांस में प्रचलित है।

Scanned with CamScanner

1 **विधि के शासन की पद्धति (Rule of Law System)** - ब्रिटिश संविधान की एक विशेषता, जिस पर ब्रिटिशवासी बहुत गर्व करते हैं 'विधि का शासन' है। 'विधि के शासन' का आशय यह है कि इंग्लैण्ड के शासन का संचालन किन्हीं विशेष व्यक्तियों की इच्छा द्वारा नहीं वरन् विधि के द्वारा ही किया जाता है। विधि के शासन का एक अन्य तात्पर्य यह है कि ब्रिटेन में सभी व्यक्ति चाहे उनका

न्यायिक नियंत्रण के साधन The Ways And Means Of Judicial Control
प्रशासनिक अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता तथा अवैध कार्यों से नागरिकों की रक्षा करने के लिए दो प्रकार की कानूनी पद्धतियाँ है :-

I विधि के शासन की पद्धति (Rule Of Law System)
II प्रशासनिक कानून की पद्धति (Administrative Law System)

पहली पद्धति इंग्लैण्ड मे विद्यमान है और दूसरी पद्धति फ्रांस में प्रचलित।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

I विधि के शासन की पद्धति (Rule Of Law System) - ब्रिटिश संविधान की एक विशेषता, जिस पर ब्रिटिशवासी बहुत गर्व करते है 'विधि का शासन' है। 'विधि के शासन' का आशय यह है कि इंग्लैण्ड के शासन का संचालन किन्ही विशेष व्यक्तियों की इच्छा द्वारा नहीं वरन् विधि के द्वारा ही किया जाता है। विधि के शासन का एक अन्य तात्पर्य यह है कि ब्रिटेन में सभी व्यक्ति चाहे उनका पद और स्थिति कुछ भी क्यों न हो, एक ही प्रकार की विधि और एक ही प्रकार के न्यायालयों के अधीन है। डायसी ने 'विधि के शासन' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "विधि के शासन के अनुसार प्रत्येक सरकारी कर्मचारी, प्रधानमंत्री से लेकर एक सामान्य सिपाही और कर संग्रह करने वाले अधिकारी तक, अपने अवैध कार्यों के लिए देश के कानून के प्रति उसी प्रकार से उत्तरदायी है, जैसे कोई अन्य सामान्य नागरिक"।

इंग्लैण्ड मे यह सिद्धांत है कि राजा कोई गलती नही करता है। अतः राजसत्ता का अंग होने से सरकारी कर्मचारी भी कोई गलती नहीं कर सकते, किन्तु उनकी यह धारणा कानून के शासन की उपर्युक्त धारणा के सर्वथा प्रतिकूल है। अतः ऐसी शासन प्रणाली वाले देशों मे किसी व्यक्ति को जिस प्रकार अन्य किसी नागरिक से होने वाली हानि से बचाव के लिए न्यायालय मे जाने का अधिकार है, उसी प्रकार वह राज्य के कर्मचारियों के विरुद्ध भी कानूनी कार्यवाही करने का उस दशा मे अधिकार रखता है जब उसकी किसी स्वतंत्रता या अधिकार का हनन सरकारी प्रशासकों के कार्य से हो।

• न्यायिक समीक्षा की रीतियाँ (Methods Of Judicial Review)
न्यायपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए विभिन्न लेख जारी किए जाते हैं। भारतीय संविधान की धारा 32(2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए आवश्यक आदेश, निर्देश तथा लेख निकाल सके। अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को यह सभी शक्तियाँ सौंपता है।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

इन असाधारण उपचारों का इतिहास काफी लम्बा है तथा ब्रिटिश संवैधानिक इतिहास में देखा जा सकता है। वहाँ उनको न्याय के मूल स्त्रोत राजा के नाम पर प्रसारित विशेषाधिकार लेख कहा जाता है। इन उपचारों को असाधारण इसलिए कहा जाता है, क्योंकि बन्दी प्रत्यक्षीकरण को छोड़कर अन्य सभी लेख न्यायालय द्वारा किसी के अधिकार के रुप में नहीं ... प्रसारित किए जाते हैं और केवल

11:33
44

Daily Notes DATE

इन असाधारण उपचारों का इतिहास काफी लम्बा है तथा
ब्रिटिश संवैधानिक इतिहास में देखा जा सकता है। वहाँ उनको
न्याय के मूल स्त्रोत राजा के नाम पर प्रसारित विशेषाधिकार
लेख कहा जाता है। इन उपचारों को असाधारण इसलिए कहा
जाता है, क्योंकि बन्दी प्रत्यक्षीकरण को छोड़कर अन्य सभी
लेख न्यायालय द्वारा किसी के अधिकार के रुप में नहीं
वरन् उसकी स्वेच्छा से प्रसारित किए जाते हैं और केवल
वही प्रसारित किए जाते हैं, जहाँ कि अन्य साधन अपर्याप्त
हो। प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के इन विभिन्न लेखों
का संक्षिप्त उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है :-

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण (The Writ Of Habeas Corpus) - बंदी
प्रत्यक्षीकरण से तात्पर्य है कि कोई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट
किसी भी अधिकारी को यह आज्ञा दे सकती है कि कैदी को
कानून के विरुद्ध जेल में न रखा जाए और उसको समीपस्थ
न्यायाधीश समक्ष पेश किया जाए

इस लेख का मुख्य लक्ष्य गैर - कानूनी रुप से बंदी बनाए
गए व्यक्ति को स्वतंत्र करना होता है।

2. परमादेश (The Writ Of Mandamus) - परमादेश लेख
द्वारा न्यायालय सार्वजनिक निकाय, सार्वजनिक कर्मचारी,
निगम या संस्था को आदेश दे सकते हैं कि वह अपने
कर्तव्य का कानून के अनुसार पालन करे।

इस लेख के द्वारा न्यायालय सरकारी अधिकारी को किसी
न किसी प्रकार के कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है।

3. प्रतिषेध (The Writ Of Prohibition) - प्रतिषेध लेख उच्च
न्यायालय द्वारा छोटी अदालतों को उस समय जारी किया
जाता है जबकि वे अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जा रही हो।

यह लेख अधीनस्थ न्यायालयों को विवादपूर्ण विषयों पर
विचार करने से रोकने के लिए प्रसारित किया जाता है।

4. उत्प्रेषण (The Writ Of Certiorari) - उत्प्रेषण लेख द्वारा
बड़ा न्यायालय छोटे न्यायालय से सभी प्रकार के रिकार्ड
इस बात की जाँच पड़ताल के लिए अपने पास मंगवा सकता

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

है कि अधीन न्यायालय अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर तो नहीं
गया है। इस लेख को प्रायः न्यायिक कार्य के विरुद्ध ही प्रसारित
किया जाता है। इस आधार पर छोटी अदालत का निर्णय ...
है अथवा खण्डित ...

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:33

44

Daily Notes

DATE

व्याख्या करने वाले संविधान, संविधियाँ, चार्टर, अध्यादेश तथा प्रस्ताव।

2) प्रशासनिक अधिकारियों तथा अभिकरणों द्वारा निर्मित नियम तथा विनियम

3) प्रशासनिक अधिकारियों तथा अभिकरणों द्वारा किए जाने वाले आदेश व निर्णय

4) उपरोक्त तीनों से संबंधित न्यायिक निर्णय

संयुक्त राज्य अमरीका में 1938 में लोक प्रशासन की एक समिति ने प्रशासनिक कानून के क्षेत्र में निम्न बातें सम्मिलित की है :-

1) सेवीवर्ग की समस्याएँ
2) वित्तीय प्रशासन संबंधी समस्याएँ
3) प्रशासनिक विवेक के संबंध में कानूनी स्थितियों के अध्ययन
4) प्रशासनिक न्यायालयों तथा प्रशासनिक कानून की समस्याएँ
5) प्रशासनिक विनियम
6) प्रशासनिक जाँच की समस्याएँ
7) सरकारी ठेकों से संबंधित समस्याएँ
8) सरकार के विरुद्ध किए जाने वाले दावे
9) असाधारण उपचारों की समस्याएँ
10) व्यावसायिक संघों की मान्यता तथा उनके स्तर से संबंधित समस्याएँ

संक्षेप में, सरकारी अधिकारियों के अवैध कार्यों से नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए फ्रांस में प्रशासनिक कानून तथा इसे लागू करने वाले प्रशासनिक न्यायालयों का विकास हुआ। प्रशासन करने वाले सरकारी अधिकारियों के साथ नागरिकों के विवाद का निर्णय इस कानून के अनुसार किया जाता था। यह कुछ अंशों में 'विधि के शासन' की पद्धति से भी उत्कृष्ट समझी जाती है क्योंकि इसमें नागरिकों को सरकारी कर्मचारी के अवैध तथा हानिकारक कार्यों से अधिक संरक्षण और

Scanned with CamScanner

Daily Notes

DATE

सुरक्षा प्राप्त होती है। फ्रांस में यदि किसी व्यक्ति को किसी सरकारी अधिकारी ...

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:33

Daily Notes DATE

सुरक्षा प्राप्त होती है। फ्रांस में यदि किसी व्यक्ति को किसी सरकारी अधिकारी से कोई हानि पहुँचती है तो वह फौरन अपनी क्षतिपूर्ति के लिए प्रशासनिक न्यायालय की शरण लेता है और राज्य के विरुद्ध आर्थिक क्षतिपूर्ति प्राप्त करता है।

इंग्लैण्ड तथा अमरीका में कोई व्यक्ति कर्मचारी द्वारा की गयी हानि के लिए राज्य पर मुकदमा नहीं चला सकता। उसे ऐसी हानि पहुँचाने वाले विशेष अधिकारी के विरुद्ध हरजाने का दावा करना पड़ेगा। यदि वह दावा अदालत ने भी स्वीकार कर लिया तो भी इसकी वसूली करना कठिन है। अदालत में मुकदमा चलने में इतना अधिक व्यय होता है कि बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसा मुकदमा चला सकते हैं। फ्रांस में प्रशासनिक मुकदमे चलाने का खर्च बहुत ही कम होता है। इसकी प्रक्रिया एकदम सरल है। इसके लिए वकील करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अब धीरे - धीरे अमरीकी तथा ब्रिटिश विधिशास्त्री प्रशासनिक कानून की उपयोगिता अनुभव करने लगे हैं और मानने लगे हैं कि इससे नागरिकों को सरकारी कर्मचारियों के अन्यायपूर्ण कार्यों से सुरक्षा प्राप्त होती है।

न्यायिक नियंत्रण की समस्याएँ (Limitations of Judicial Control)

यद्यपि न्यायिक नियंत्रण के माध्यम से आम नागरिक के अधिकार एवं स्वतंत्रता सुनिश्चित होती है किन्तु न्यायिक नियंत्रण की कुछ सीमाएँ भी हैं, जैसे -

1. न्यायालय स्वयं पहल नहीं करता बल्कि पीड़ित पक्ष को न्यायालय में आकर गुहार करनी पड़ती है।
2. न्यायिक नियंत्रण का लाभ घटना के घटित हो जाने के पश्चात् मिलता है अर्थात् यह प्रक्रिया पोस्टमार्टम के समान है। इसमें बचावात्मक पक्ष कमजोर है।
3. भारत में न्यायिक प्रक्रिया अत्यंत शिथिल, खर्चीली, समय एवं श्रमसाध्य है अतः आम व्यक्ति बहुत कम इसका लाभ उठा पाते हैं
4. प्रशासन के समस्त कृत्य न्यायिक नियंत्रण के अधीन नहीं हैं,

Scanned with CamScanner

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

एवं श्रमसाध्य है अतः आम व्यक्ति बहुत कम इसका लाभ उठा पाते हैं।

4. प्रशासन के समस्त कृत्य न्यायिक नियंत्रण के अधीन नहीं हैं,

Scanned with CamScanner

अतः न्यायिक नियंत्रण का दायरा सीमित हो गया है।

5. कोई एक मुकदमा या वाद जब विभिन्न न्यायालयों में पृथक-पृथक निर्णय प्राप्त करता है तो न्याय प्रणाली पर आस्था कम होती है। यही कारण है कि न्यायालयों में अपीलें बहुत होती हैं।

वस्तुतः स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका किसी भी व्यवस्था का मुख्य आधार होती है। लार्ड ब्राइस का कथन है – "कानून का सम्मान तभी होता है जब वह निर्दोष व्यक्तियों की रक्षा के लिए ढाल बन जाता है और प्रत्येक नागरिक के निजी अधिकारों का संरक्षण करता है। यदि अंधेरे में न्याय का दीपक बुझ जाए तो उस गहन अंधकार का अनुमान ~~लगाना~~ लगाना कठिन है।"

Scanned with CamScanner

होगा। अधिनियम की धारा 25 व 26 केन्द्र सरकार को अधिकृत करता है कि वह अधिनियमों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियम और विनियम बना सकेगी। वस्तुतः विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की रचना केन्द्र सरकार ने संघीय सूची के अन्तर्गत संविधान द्वारा आरोपित अपने इस दायित्व की पूर्ति के लिए की है जिसमें संविधान उससे यह

15

संघ लोक सेवा आयोग : संगठन एवं कार्य

(Union Public Service Commission : Organisation and Functions)

भारत के संविधान निर्माताओं ने संविधान के निर्माण के समय इस तथ्य को भली-भांति आत्मसात् कर लिया था कि किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के सफल संचालन के लिए एक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था उसका आधार (Base) होती है। इसी भावना के अनुरूप उन्होंने भारतवर्ष के लिए प्रशासनतन्त्र में कार्मिकों की भर्ती हेतु योग्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। **उन्होंने इस देश के लिए एकीकृत प्रशासनिक व्यवस्था और तदनुरूप एक एकीकृत लोकसेवा की परिकल्पना की।**

इससे भी पहले 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत जब कुछ सांविधानिक सुधार प्रारम्भ हुए, उस समय भारत में प्रथम बार लोकसेवा आयोग की स्थापना हुई। भारत में यह प्रेरणा ब्रिटेन व अमरीका में लोकसेवा आयोगों की स्थापना से ग्रहण की गई थी। इन दोनों देशों में लोक सेवा आयोग की स्थापना इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की गई थी कि इससे लोकसेवा आयोग को राजनीतिज्ञों की कार्यवाही से मुक्त रखा जा सकेगा। भारत में प्रशासन तंत्र को राजनीतिज्ञों के सन्निकट अतिक्रमण से स्वतंत्र रखने के उद्देश्य से लोकसेवा आयोग की स्थापना का निर्णय सर्वप्रथम 1919 के सुधारों के अन्तर्गत किया गया था।[1] हमारे संविधान निर्माता दुनिया के विभिन्न देशों में लोकसेवा आयोग की बढ़ती हुई मांग और उसकी प्रतिष्ठा, आवश्यकता तथा महत्त्व से परिचित थे। वे इस तथ्य से भली-भांति अवगत थे कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के स्वास्थ्य के हित में कर्मचारियों की भर्ती को कार्यपालिका के हाथों न छोड़कर एक स्वतंत्र अभिकरण को सौंपा जाना चाहिए। यही कारण था कि लोकसेवा आयोग में समानता व योग्यता के आधार पर योग्य व्यक्ति के चयन को सुनिश्चित करने के लिए संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय व राज्यों के स्तर पर लोकसेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान संविधान में किया है।

भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कम से कम 10 वर्ष तक पद धारण किया हो।" संविधान सभा में इस प्रावधान की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने ... था कि लोकसेवाओं में उम्मीदवारों की ...

संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provisions)

हमारे संविधान के अनुच्छेद 315 से लेकर 323 तक केन्द्र व राज्यों के स्तर पर लोकसेवा आयोग के सम्बन्ध में प्रावधान किये गये हैं। अनुच्छेद 315 संघ के लिए एक लोकसेवा आयोग का उपबन्ध करता है।[2] दो या दो से अधिक राज्य एक संयुक्त राज्य लोकसेवा आयोग रख सकते हैं और संसद उनकी इस प्रार्थना पर संयुक्त आयोग की स्थापना कर सकती है।[3] इसी में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी राज्य का राज्यपाल संघ के लोकसेवा आयोग से राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करने की प्रार्थना करे तो राष्ट्रपति के अनुमोदन से संघ लोकसेवा आयोग राज्यों के लिए कार्य कर सकता है।[4] इस तरह हमारा संविधान केन्द्रीय स्तर पर लोकसेवा आयोग, प्रत्येक राज्य के स्तर पर राज्य लोकसेवा आयोग और दो या दो से अधिक राज्यों के लिए, उनके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर, संयुक्त राज्य लोकसेवा आयोग का प्रावधान करता है। इस अध्याय में संघ लोकसेवा आयोग से सम्बन्धित प्रावधानों, उसके संगठन और वर्तमान संरचना तथा कार्यों का विश्लेषण किया जा रहा है।

संघ लोकसेवा आयोग का संगठन (Composition of UPSC)

संविधान ने आयोग के आकार को निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा है। 26 जनवरी, 1950 को जब संविधान क्रियाशील हुआ और संघीय लोकसेवा आयोग अस्तित्व में आया, उस समय आयोग के अध्यक्ष सहित चार सदस्य थे।[5] सदस्यों की यह संख्या छः और दस सदस्यों के बीच स्थिर रही। वर्तमान में एक अध्यक्ष और अधिकतम दस सदस्यों की संख्या निर्धारित की हुई है।[6]

सदस्यों की नियुक्ति तथा पदावधि (Appointment and Tenure of Members)

भारत के संविधान निर्माताओं ने संघ लोकसेवा आयोग को न्यायपालिका जैसा स्थान प्रदान किया है। ऐसा करते समय वे 1924 के प्रवर्जन सेवाओं सम्बन्धी राजकीय आयोग (Lee Commission) के इस मत से प्रेरित हुए थे कि इस बात की सर्वाधिक आवश्यकता है कि अत्यधिक लोक प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों को आयोग का सदस्य बनाया जाये ताकि वे राज्य तथा उसके कर्मचारियों के मध्य महत्वपूर्ण व आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर सकें। जहाँ व्यावहारिक हो, इन सदस्यों को समस्त राजनीतिक संगठनों से दूर रहना चाहिए और कम से कम दो सदस्य तो उच्च न्यायिक अथवा कानूनी योग्यताओं से युक्त होने चाहिए। इन्हें पूर्णकालिक अधिकारी होना चाहिये और इनका वेतन व अन्य सुविधाएँ उच्च न्यायालय के न्यायाधीश से कम नहीं होनी चाहिए।[7] इसी भावना के अनुरूप हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान में ऐसे प्रावधान किए हैं जिनसे संघ लोकसेवा आयोग के सदस्य अपने दायित्वों का निर्वाह करते समय किसी भी प्रकार के प्रभाव और दबाव से मुक्त रहें।

संघ लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।[8] आयोग के अध्यक्ष सहित अन्य सदस्यों का चयन करते समय राष्ट्रपति को यह देखना होता है कि लगभग आधे सदस्य ऐसे हों जिन्होंने अपनी नियुक्ति की तारीख पर

भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कम से कम 10 वर्ष तक पद धारण किया हो।[9] संविधान सभा में इस प्रावधान की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि लोकसेवाओं में उम्मीदवारों की उपयुक्तता की जांच के सम्बन्ध में उस व्यक्ति से अधिक श्रेष्ठ कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता जो स्वयं लोकसेवाओं से सम्बद्ध रहा हो।[10] शेष आधे सदस्यों के सम्बन्ध में किसी विशेषज्ञता अथवा योग्यता का उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार राष्ट्रपति पर छोड़ा गया है। संघ लोकसेवा आयोग का सदस्य अपने पद ग्रहण की तारीख से 6 वर्ष की अवधि तक अथवा 65 वर्ष की आयु तक जो भी इनमें से पहले हो अपना पद धारण करेगा। इसका अर्थ है कि यदि वह 65 वर्ष की आयु को प्राप्त कर चुका है तो 6 वर्ष की अवधि से पहले भी सेवानिवृत्त कर दिया जाएगा।[11] आयोग का कोई सदस्य स्वयं अपने पद से इस्तीफा भी दे सकता है।[12]

संविधान के अनुच्छेद 317 के अन्तर्गत केवल दो ही परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनकी स्थिति में आयोग के सदस्यों को पद मुक्त किया जा सकता है। **प्रथमतः** आयोग के किसी भी सदस्य को राष्ट्रपति के आदेश से पद मुक्त किया जा सकता है। यदि राष्ट्रपति सम्बन्धित सदस्य का मामला उच्चतम न्यायालय के पास भेजे और उच्चतम न्यायालय जांच के बाद यह सिफारिश करे कि उक्त सदस्य कदाचार के आधार पर पदमुक्त किया जाये तो राष्ट्रपति इस आशय का आदेश जारी कर सकता है। **द्वितीयतः** एक सदस्य स्वतः ही अयोग्य हो जाता है यदि वह (1) दिवालिया घोषित कर दिया जाये या (2) अपनी पदावधि के दौरान कोई अन्य नौकरी करता हो या (3) राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण अपने पद के अयोग्य हो गया हो।[13]

लोकसेवा आयोग के सदस्य अपनी पदावधि की समाप्ति पर उसी पद पर पुनर्नियुक्ति के लिए अपात्र होंगे।[14] वह भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई पद धारण करने के लिए भी अपात्र होंगे सिवाय इसके कि संघ लोकसेवा आयोग का कोई सदस्य इसी आयोग का या राज्य के किसी लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष बनाया जा सकता है।[15] आयोग का अध्यक्ष भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन कोई नियुक्ति नहीं पा सकता है।

इस प्रकार के प्रतिबन्धों का जनता पर गंभीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है और वे आयोग के सदस्यों का विशेष सम्मान करते हैं क्योंकि जनहित के लिए वे प्रभावी पदों का त्याग करते हैं।[16] संघ लोकसेवा आयोग के सदस्यों की संख्या तथा उनकी सेवा सम्बन्धी शर्तों को निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रपति में निहित किया गया है। यह व्यवस्था हमें 1935 के अधिनियम की धरोहर के रूप में प्राप्त हुई। यद्यपि इसके प्रावधान पूर्ववर्ती कानून से कुछ बेहतर हैं। इसमें कहा गया है कि सदस्यों की सेवा की शर्तों में उनकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जायेगा।[17] संविधान के इसी भाग में संघ लोकसेवा आयोग के कर्मचारिवृन्द की संख्या तथा उनकी सेवा की शर्तों के सम्बन्ध में उपबन्ध करने के अधिकार दिये गये हैं।

का निर्वाह करते समय किसी भी प्रकार के प्रभाव और दबाव से मुक्त रहें।

संघ लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।[3] आयोग के अध्यक्ष सहित अन्य सदस्यों का चयन करते समय राष्ट्रपति को यह देखना होता है कि लगभग आधे सदस्य ऐसे हों जिन्होंने अपनी नियुक्ति की तारीख पर

आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को तत्समय प्रवर्तित वेतन व भत्ते प्रतिमाह मिलते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालयों व उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा भारत के नियंत्रक व महालेखा परीक्षक की आय की भांति संविधान ने अपने प्रारूप में संघ लोकसेवा आयोग के सदस्यों की आय प्रस्तावित नहीं की है।

आयोग की वर्तमान संरचना (Present Structure of the Commission)

आयोग की वर्तमान संरचना का चार्ट नीचे दिया जा रहा है।

संघ लोकसेवा आयोग : संगठनात्मक ढांचा (*जून 2008 की स्थिति*)

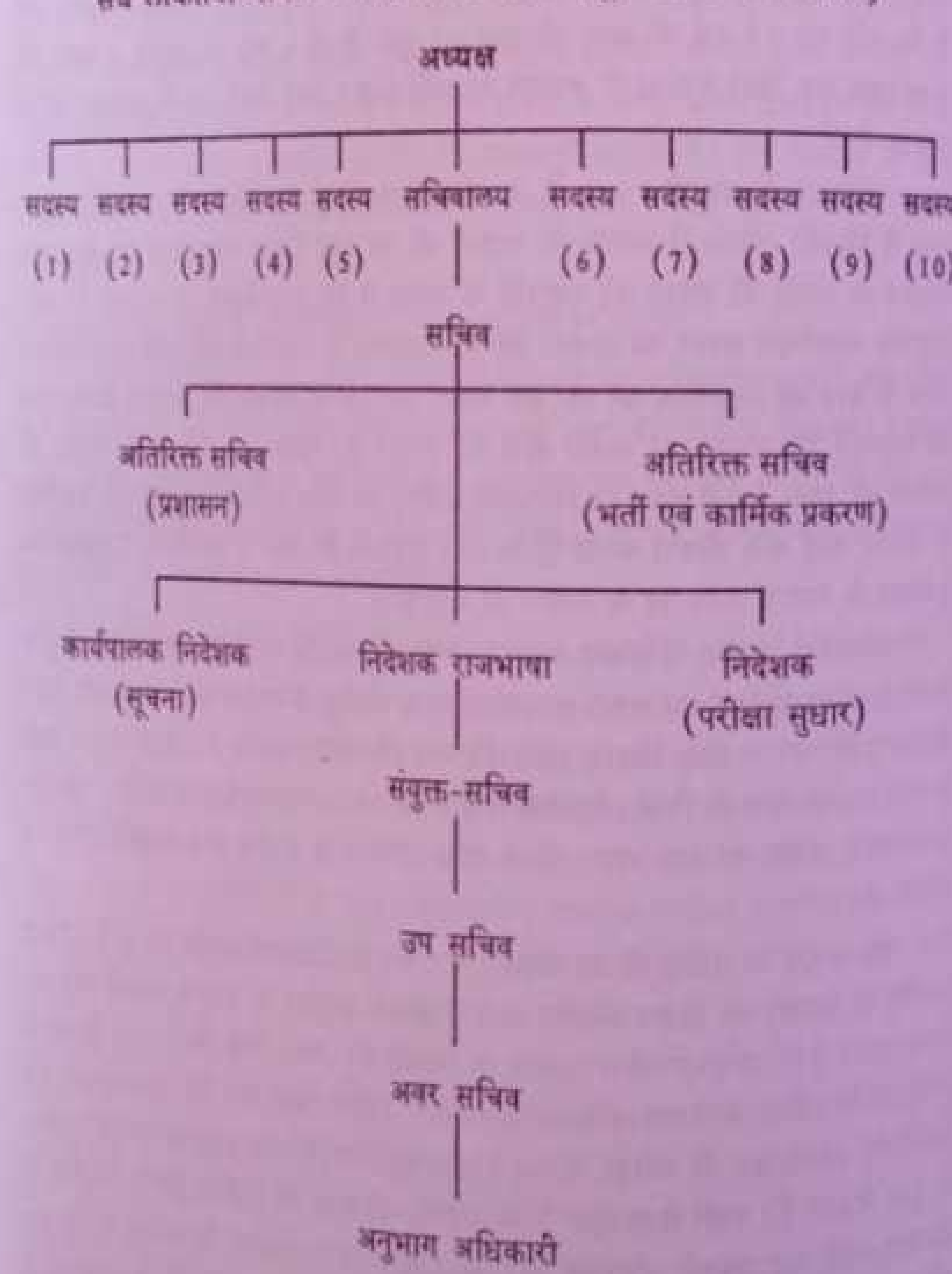

...के अधिनियम की धरोहर के रूप में प्राप्त हुई। यद्यपि इसके प्रावधान पूर्ववर्ती कानून से कुछ बेहतर हैं। इसमें कहा गया है कि सदस्यों की सेवा की शर्तों में उनकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जायेगा।[17] संविधान के इसी भाग में संघ लोकसेवा आयोग के कर्मचारिवृन्द की संख्या तथा उनकी सेवा की शर्तों के सम्बन्ध में उपबन्ध करने के अधिकार दिये गये हैं।

आयोग का सचिवालय एवं स्टाफ (Secretariat and Its Staff)

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि संविधान के अनुच्छेद 318 में आयोग के कर्मचारिवृन्द की संख्या तथा उनकी सेवा शर्तों के सम्बन्ध में विनियम बनाने की शक्ति संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दी गई है। आयोग के नवीनतम प्रकाशित प्रतिवेदन के अनुसार आयोग के सचिवालय में कार्यरत राजपत्रित अधिकारियों की संख्या लगभग 51 है जिनमें एक सचिव, अतिरिक्त सचिव, निदेशक, संयुक्त सचिव, उपसचिव तथा अन्य विशेषज्ञ अधिकारी सम्मिलित हैं।

राजपत्रित अधिकारियों के उपर्युक्त पदों में केवल प्रमुख-प्रमुख पदों की ही गणना की गई है। इनके अतिरिक्त भी अनेक राजपत्रित अधिकारियों के पद आयोग में कार्यशील हैं।

आयोग के सचिवालय में अनेक अराजपत्रित पद भी स्वीकृत हैं जिनकी संख्या लगभग 1,510 है। संघ लोक सेवा आयोग का कार्यालय शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली में स्थित है। लगभग 1,600 अधिकारियों एवं कर्मचारियों से युक्त इस आयोग का प्रशासनिक सचिवालय कई शाखाओं में बँटा हुआ है जिसमें संस्थापना, लेखा सांख्यिकी, परीक्षा, भर्ती, गोपनीय, पंजीकरण, सेवाशर्तें मामले, कम्प्यूटर, प्राप्ति एवं प्रेषण, पुस्तकालय तथा रिकार्ड शाखा इत्यादि प्रमुख हैं। अधिकांश शाखाएं प्रत्यक्षतः उपसचिव के नियंत्रण में कार्यरत हैं। उपसचिव के अधीन अवर सचिव, अनुभाग अधिकारी, निजी सहायक, वरिष्ठ तथा कनिष्ठ लिपिक एवं चतुर्थ श्रेणी कार्मिक कार्यरत हैं।

आयोग का व्यय (Expenses of the Commission)

लोकसेवा आयोग के व्यय के बारे में संविधान में यह कहा गया है कि संघ के या राज्य के लोकसेवा आयोग के व्यय, जिनके अन्तर्गत आयोग के सदस्यों या कर्मचारिवृंद को दिये जाने वाले वेतन भत्ते और निवृत्ति-वेतन शामिल है, भारत की संचित निधि या राज्य की संचित निधि पर भारित होंगे।[19] इस प्रकार लोकसेवा आयोग का समस्त व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होता है जिसका अभिप्राय यह है कि इसके व्यय को संसद के नियंत्रण से मुक्त रखा गया है। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को 30,000 रुपये तथा सदस्यों को 26,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है।

आयोग का प्रतिवेदन (Annual Reports of the Commission)

संविधान यह प्रावधान करता है कि संघ लोकसेवा आयोग का कर्तव्य होगा कि राष्ट्रपति को अपने द्वारा किये गए काम के बारे में प्रतिवर्ष प्रतिवेदन दे, तथा ऐसे प्रतिवेदन के मिलने पर राष्ट्रपति उन मामलों के बारे में, यदि कोई हो, जिनमें कि आयोग का परामर्श स्वीकार नहीं किया गया, ऐसी अस्वीकृति के लिये कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन के सहित उस प्रतिवेदन की प्रतिलिपि संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा।[20] इस तरह आयोग के लिए अनिवार्य है कि वह प्रतिवर्ष अपना एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करे जिसमें वर्षभर में उसके द्वारा किए गए कार्यों का विस्तृत विवरण सम्मिलित होना चाहिए। आयोग ने अपने स्थापनाकाल से लेकर 2007 तक 58 प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत किए हैं।

आयोग के कार्य (Functions of the Commission)

संघ लोकसेवा आयोग भारतीय संविधान के अनुच्छेद 315 की रचना है। इस कारण संविधान के विभिन्न प्रावधानों के अन्तर्गत अपेक्षित कार्यों को करने के लिए वह वचनबद्ध है। प्रोफेसर एम.ए. **मुतालिब** ने संघ लोकसेवा आयोग के कार्यों के चार स्रोतों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं[21] :

(I) संविधान

प्रथम स्रोत के रूप में उन्होंने भारत के संविधान को लोकसेवा आयोग के कार्यों का प्रमुख स्रोत माना है। संविधान में कहा गया है कि संघ लोकसेवा आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह संघ की सेवाओं में नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करें।[22] इसी में आगे यह भी कहा गया है कि यदि संघ लोकसेवा आयोग से कोई दो या दो से अधिक राज्य ऐसा करने की प्रार्थना करें तो उसका यह भी कर्तव्य होगा कि ऐसी किन्हीं सेवाओं, जिनके लिए विशेष योग्यता वाले अभ्यर्थी अपेक्षित हैं, मिलीजुली भर्ती की योजनाओं के बनाने तथा प्रवर्तन में लाने के लिए उन राज्यों की सहायता करें।[23] इसी प्रकार संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि संघ लोकसेवा आयोग से, भर्ती की रीतियों, एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नति और बदली करने, अनुशासनिक विषयों तथा कर्मचारियों को हुई क्षति के बारे में किसी दावे पर दी जाने वाली राशि क्या हो? आदि मामलों में, राष्ट्रपति से परामर्श ले सकेंगे?[24] संविधान में ही यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति ऐसे विनियम बना सकेंगे जिनमें किसी विशेष वर्ग के मामलों में अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाना आवश्यक न होगा।[25] संविधान में ही यह प्रावधान भी किया गया है कि संसद संघ लोकसेवा आयोग के कृत्यों के विस्तार करने के बारे में तथा किसी स्थानीय प्राधिकारी या विधि द्वारा गठित अन्य निगम निकाय अथवा किसी सार्वजनिक संस्था की सेवाओं के बारे में अतिरिक्त कृत्यों के प्रयोग के लिए उपबन्ध कर सकेगी।[26]

इस प्रकार भारत के संविधान के अनुच्छेद 320 व 321 संघ लोकसेवा आयोग के कृत्यों और उनके विस्तार के बारे में विशद प्रावधान करते हैं।

(II) विधायी अधिनियम

द्वितीय स्रोत के रूप में प्रोफेसर मुतालिब ने संघ लोकसेवा आयोग के कार्यों का दूसरा स्रोत 'विधायी अधिनियम' बताया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, भारत की संसद संघ लोकसेवा आयोग के कार्यों की वृद्धि के बारे में कोई कानून बनाकर उसे अतिरिक्त कार्य सौंप सकती है। उदाहरण के लिए टेरिटोरियल काउंसिल्स एक्ट 1956 तथा दिल्ली नगर निगम अधिनियम 1957 के माध्यम से संसद ने संघ लोकसेवा आयोग के कार्यों में कुछ अतिरिक्त दायित्व जोड़े हैं।

(III) कार्यपालिका नियम

संघ लोकसेवा आयोग के कार्यों का तीसरा स्रोत कार्यपालिका द्वारा बनाए गए विभिन्न नियम तथा उसके द्वारा जारी विभिन्न आदेश हैं। संविधान के अनुच्छेद 320 की

आयोग के लिए अनिवार्य है कि वह प्रतिवर्ष अपना एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करे जिसमें वर्षभर में उसके द्वारा किए गए कार्यों का विस्तृत विवरण सम्मिलित होना चाहिए। आयोग ने अपने स्थापनाकाल से लेकर 2007 तक 58 प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत किए हैं।

उपधारा-3 के उपबन्धों के अधीन राष्ट्रपति आयोग के परामर्श का क्षेत्र परिभाषित कर सकते हैं। इसी तरह इसी उपधारा के परन्तुक के अधीन राष्ट्रपति नियम बनाकर कुछ सेवाओं के सम्बन्ध में संघ लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाना मुक्त घोषित कर सकते हैं। राष्ट्रपति ने इस सम्बन्ध में संघ लोकसेवा आयोग (परामर्श से मुक्त) नियम 1958 बनाए हैं, जिनके अनुसार संघीय कार्यपालिका समय-समय पर विभिन्न पदों के बारे में संघ लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाना मुक्त घोषित कर सकती है।

(IV) परम्पराएँ

आयोग के कार्यों का अंतिम स्रोत है– अभिसमय या परम्पराएं। संघ लोकसेवा आयोग ऐसे अनेक कार्य करता है जो न तो संविधान में उल्लिखित हैं और न ही संसद के विधेयकों में। उदाहरण के लिए सुरक्षा सेवाओं में भर्ती करना आयोग का दायित्व नहीं है क्योंकि ये सेवाएं लोक सेवाओं के अन्तर्गत नहीं आतीं किन्तु सुरक्षा सेनाओं के सभी अंगों में कैडेटों की भर्ती सर्वप्रथम 1949 में रक्षा मंत्रालय के अनुरोध पर की गई थी जो अब आयोग की गतिविधियों की नियमित विशेषता बन गई है।[27]

उपर्युक्त वर्णित स्रोतों के अन्तर्गत संघ लोकसेवा आयोग कुल मिलाकर जिन कार्यों को निष्पादित करता है उन्हें निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत बांटा जा सकता है :

1. भर्ती सम्बन्धी कार्य (Recruitment Functions)

संघ लोकसेवा आयोग को संघ की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का संचालन करने का दायित्व संविधान ने स्पष्ट तौर से दिया है। अपने इस दायित्व के अन्तर्गत संघ लोकसेवा आयोग विभिन्न अखिल भारतीय सेवाओं हेतु उच्च केन्द्रीय सेवाओं के रिक्त पदों पर योग्य, बुद्धिमान और सर्वश्रेष्ठ प्रत्याशियों का चयन करने के लिए परीक्षाओं का आयोजन करता है। राष्ट्रपति ने संघ लोकसेवा आयोग (विचार-विमर्श से मुक्ति) अधिनियम 1958 के अन्तर्गत जिन पदों को संघ लोकसेवा आयोग के परामर्श के क्षेत्र से मुक्त घोषित कर रखा है उनके अलावा उपर्युक्त सेवाओं में रिक्त पदों के लिए भारत सरकार से सम्बन्धित मंत्रालय की प्रार्थना पर भर्ती हेतु परीक्षाओं का आयोजन करता है।

संघ लोकसेवा आयोग प्रतिवर्ष भर्ती की प्रक्रिया में विभिन्न पदों के लिए निम्नांकित परीक्षाएं आयोजित करता है :

(i) सिविल सेवा परीक्षा
   (क) भारतीय प्रशासनिक सेवा
   (ख) भारतीय पुलिस सेवा
   (ग) केन्द्रीय सेवा श्रेणी "अ"
   (घ) केन्द्रीय सेवा श्रेणी "ब"
(ii) भारतीय वन सेवा परीक्षा
(iii) इंजीनियरिंग सेवा परीक्षा
(iv) स्पेशल क्लास रेल्वे अप्रेन्टिस परीक्षा

(v) राष्ट्रीय रक्षा अकादमी और नौसेना परीक्षा
(vi) सम्मिलित रक्षा सेवा परीक्षा
(vii) भारतीय आर्थिक सेवा परीक्षा
(viii) सम्मिलित चिकित्सा सेवा परीक्षा
(ix) अनुभाग अधिकारी/आशुलिपिक (ग्रेड-ख/ग्रेड-1) सीमित विभागीय प्रतियोगिता परीक्षा

इनके अतिरिक्त अनेक विभागीय विशेषज्ञ पदों के लिए सीधे साक्षात्कार के आधार पर भी भर्ती की जाती है।

इस हेतु आयोग रिक्त पदों का विज्ञापन राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय समाचारपत्रों में निकालकर योग्य उम्मीदवारों से निश्चित तिथि तक आवेदन पत्र आमंत्रित करता है। प्राप्त आवेदन पत्रों की योग्यता मापदण्ड के अनुरूप छंटनी कर भर्ती के लिए द्विस्तरीय परीक्षा आयोजित करता है। प्रथम स्तर पर प्रारम्भिक परीक्षा (Preliminary Examination) का आयोजन किया जाता है जिसमें उम्मीदवारों की सामान्य ज्ञान एवं उनके द्वारा चुने हुए एक वैकल्पिक विषय में परीक्षा ली जाती है। परीक्षा का यह प्राथमिक स्तर कोठारी समिति के सुझाव पर 1979 से लागू किया गया है। इसका यह लाभ हुआ है कि संघ लोकसेवा आयोग अगंभीर परीक्षार्थियों को प्राथमिक स्तर पर ही छांट देता है और केवल उन गंभीर प्रत्याशियों की ही परीक्षा सिविल सेवा के लिए लेता है जिन्होंने न्यूनतम योग्यता इस प्राथमिकता परीक्षा में सिद्ध कर दी है। इस तरह प्राथमिक परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को प्रमुख परीक्षा में बैठने का अवसर दिया जाता है। इस प्रमुख परीक्षा के दो चरण होते हैं। प्रथम चरण के रूप में प्रत्याशियों से लिखित परीक्षा में बैठने की अपेक्षा की जाती है और इस लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों का इसके द्वितीय चरण में साक्षात्कार लिया जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संघ लोकसेवा आयोग भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों द्वारा रिक्तियों की भेजी गई सूचना के आधार पर पदों का विज्ञापन करता है और इस हेतु योग्यतम प्रत्याशियों के चयन के लिए परीक्षा का आयोजन करता है। दोनों चरणों में आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षाओं में जो प्रत्याशी सर्वश्रेष्ठ पाए जाते हैं, आयोग उसकी योग्यता क्रम में सूची तैयार करता है तथा यह सूची सरकार के उस मंत्रालय को नियुक्ति की सिफारिश के साथ भेज देता है जिस मंत्रालय ने इस हेतु रिक्तियों की सूचना प्रस्तुत की थी। इस प्रकार संघ लोकसेवा आयोग भारत सरकार के लिए अखिल भारतीय सेवाओं एवं केन्द्रीय सेवाओं में रिक्त पदों हेतु योग्यतम प्रत्याशियों के चयन की सूची प्रस्तुत कर उन्हें नौकरी देने की सिफारिश करता है। आयोग का यह कार्य पूर्णतः परामर्शदात्री है जिसे स्वीकारना सरकार पर निर्भर करता है।

2. परामर्श सम्बन्धी कार्य (Advisory Functions)

संविधान के अनुच्छेद 320 की उपधारा 3 के अनुसार संघ लोकसेवा आयोग के परामर्श के क्षेत्र का निर्धारण करती है। विभिन्न कार्मिक मामलों में सरकार के लिए

केन्द्रीय सेवाओं के लिए पदोन्नति में भी नियमानुसार संघ लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाता है।

इसी प्रकार इस वर्ष आयोग ने एक सेवा से दूसरी सेवा में स्थानान्तरण या परावर्तन (Deputation) के माध्यम से नियुक्ति के लिए विभिन्न विभागों के लिए अनेक मामलों में अपना परामर्श उपलब्ध किया। सेवानिवृत्ति के बाद पुनः रोजगार में लेने के लिए विभिन्न मंत्रालयों को भी आयोग ने अपना परामर्श दिया।

(ग) अनुशासनात्मक कार्यवाही सम्बन्धी मामलों में

भारत सरकार के अन्तर्गत अखिल भारतीय सेवाओं एवं केन्द्रीय सेवाओं के अधिकारियों पर अनुशासनात्मक कार्यवाही के कारण यदि कोई कार्यवाही की जानी है तो प्रस्तावित कार्यवाही पर संघ लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाना संविधान ने आवश्यक बनाया है। अधिकारियों द्वारा दीर्घ-सूत्रता, कार्य के प्रति आलस्य, लापरवाही, सरकारी सम्पत्ति की तोड़फोड़ या हानि, अकुशलता, अवज्ञा, अनैतिकता, निष्ठा का अभाव या आचरण संहिता के नियमों का उल्लंघन किया जाना अनुशासनात्मक कार्यवाही का आधार बन जाता है। इन समस्त मामलों में दोषी पाये जाने पर यदि किसी अधिकारी के विरुद्ध कोई आदेश पारित किया जाना है तो राष्ट्रपति उस प्रकरण को संघ लोकसेवा आयोग के परामर्श के लिए प्रेषित करते हैं। यद्यपि अनुशासनात्मक कार्यवाही का अधिकार केन्द्र सरकार का ही होता है और आयोग की भूमिका मात्र परामर्शदात्री होती है, फिर भी शासन, आयोग द्वारा दिए हुए तत्सम्बन्धी परामर्श से काफी सीमा तक निर्देशित होता है। अनुशासनात्मक मामले, जो आयोग के परामर्श के लिए प्रेषित किये जाएं उन पर आयोग इस दृष्टि से विचार करता है कि शासन ने अनुशासनात्मक कार्यवाही के नियमों के अन्तर्गत निधारित्त प्रक्रिया का पालन किया है या नहीं ? इस प्रक्रिया के लिए मामले से सम्बन्धित समस्त पत्रावलियां तथा कार्यवाही के रिकार्ड से आयोग को अवगत कराना होता है।

(घ) अन्य कार्मिक मामलों में

संघ लोकसेवा आयोग वरिष्ठता, विधिक वाद में व्यय के पुनर्भरण, असाधारण पेंशन तथा अन्य विविध प्रकार के कार्मिक मामलों में भी परामर्श देता है। भर्ती, पदोन्नति और अनुशासनात्मक मामलों में भूमिका के अलावा भी संघ लोकसेवा आयोग स्थानान्तरण सम्बन्धी सामान्य नीति, तथा किसी व्यक्ति के सेवा में ड्यूटी पर रहते हुए क्षति के लिए क्षतिपूर्ति तथा किसी कर्मचारी को अपने विरुद्ध न्यायिक मामले में बचाव हेतु व्यय की गई राशि के पुनर्भरण आदि के मामलों में भी शासन को मांगे जाने पर परामर्श देता है। आयोग सेवा नियमों के निर्माण की जांच और परीक्षा भी करता है। इसके अतिरिक्त शासन द्वारा किसी भी सामान्य और अपरिहार्य परिस्थिति में जो अस्थायी नियुक्तियां कर ली जाती हैं, उन्हें आयोग द्वारा अनुमोदित कराना होता है। इस सम्बन्ध में आयोग ऐसी नियुक्तियों को स्वीकृति देता है तभी उन्हें वेतन और अन्य सुविधाएं देय मानी जाती है। ऐसी नियुक्तियां आयोग की स्वीकृति प्राप्त किए बिना एक वर्ष से अधिक जारी नहीं रह सकतीं। आयोग ने अपने प्रतिवेदनों में सरकार का ध्यान ऐसे मामलों की ओर

आकृष्ट किया है जिनमें अस्थायी नियुक्तियां एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए चल रही होती हैं।

आयोग के कार्यों के सम्बन्ध में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संविधान के अनुच्छेद 320 की उपधारा 3 के परंतुक के अधीन राष्ट्रपति ऐसे नियम बना सकता है जिनके माध्यम से, किसी विशेष वर्ग के मामले में, किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, संघ लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाना आवश्यक न होगा। इस प्रावधान के अनुसरण में राष्ट्रपति ने एक सितम्बर, 1958 से संघ लोकसेवा आयोग (विचार-विमर्श से मुक्ति) अधिनियम, 1958 लागू किया है जिनके अनुसार अब तक बहुत सारे पदों को आयोग के कार्यक्षेत्र से बाहर रखा गया है। उदाहरणार्थ 26 मार्च, 1962 को जारी आदेश के अनुसार राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के सचिवालय के कर्मचारियों तथा गृह मंत्रालय के सत्कार संगठन (Hospitality Organisation) के पदों को आयोग की परिधि से मुक्त रखा गया है। इसी प्रकार योजना आयोग के मुख्य परामर्शदाता का पद तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के न्यायिक अधिकारियों के पद और आसूचना ब्यूरो के कुछ पद ऐसे हैं जिन्हें संघ लोकसेवा आयोग के कार्यक्षेत्र से मुक्त रखा गया है। इन पदों के बारे में चयन की प्रक्रिया संघ लोकसेवा आयोग से प्रभावित नहीं होती है। दूसरी ओर दिल्ली नगर निगम, भारतीय जीवन बीमा निगम आदि संस्थानों के कुछ ऐसे पद हैं जिनके बारे में संसद ने विशेष प्रावधानों के माध्यम से संघ लोकसेवा आयोग के कृत्यों में जोड़ दिया है।

आयोग का सरकार से सम्बन्ध (Relationship of Commission and Government)

संघ लोक सेवा आयोग के सरकार से सम्बन्ध को निम्न शीर्षकों में समझा जा सकता है-

1. आयोग : एक परामर्शदात्री निकाय (Commission : An Advisory Body)

संघ लोकसेवा आयोग संविधान द्वारा अधिकृत "भर्ती अभिकरण" के रूप में कार्य करता है और संविधान द्वारा भी आयोग की परिकल्पना एक परामर्शदात्री निकाय के रूप में ही की गई है। अनुच्छेद 323 इस बात का स्पष्ट प्रावधान करता है कि संघ लोकसेवा आयोग अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष प्रस्तुत करेगा और राष्ट्रपति उन मामलों के बारे में, जिनमें कि आयोग का परामर्श स्वीकार नहीं किया गया, अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन सहित उस प्रतिवेदन की प्रतिलिपि संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखेगा। संविधान की यह शब्दावली आयोग के परामर्शदात्री स्वरूप का उद्घोष करती है। यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि क्या सरकार सभी कार्मिक मामलों में आयोग से परामर्श करे? इस मामले पर कलकत्ता हाईकोर्ट ने यह राय व्यक्त की कि यह स्थिति अपेक्षित है, अनिवार्य नहीं। उच्चतम न्यायालय ने भी इस तरह के परामर्श को बाध्यकारी नहीं माना है। उनकी राय में ऐसा परामर्श स्वीकार न किया जाना किसी कर्मचारी के लिए कानूनी कार्यवाही का आधार नहीं बन सकता। यह सम्बद्ध सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है कि किस विषय-विशेष पर राय लेनी है और किस पर नहीं लेनी।[11] आयोग द्वारा

प्रेषित चयनित प्रत्याशियों की सूची में से नियुक्ति में विलम्ब तो प्रायः सामान्य बात हो गई है। यद्यपि इन सभी परिस्थितियों में सरकार को उसका कारण स्पष्ट करना होता है।

II. आयोग और संसद (Commission and Parliament)

संविधान ने अपने दो प्रसंगों में संसद और आयोग के सम्बन्धों को परिभाषित किया है। अनुच्छेद 321 संसद को यह शक्ति देता है कि वह अधिनियम के कृत्यों में विस्तार कर सकती है। इसी प्रकार अनुच्छेद 323 के माध्यम से संसद को प्रतिवर्ष आयोग के प्रतिवेदनों पर विचार करने का अवसर मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आयोग के कार्य संचालन के लिए राष्ट्रपति जो नियम बनाते हैं, संसद उनमें वांछित परिवर्तन और संशोधन सुझा सकती है। किसी भी स्तर पर सामाजिक दर्शन में परिवर्तन के कारण आयोग के कार्य में वृद्धि या कटौती भी संसद कर सकती है। संसद आयोग के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार-विमर्श के दौरान आयोग के कार्यकरण की आलोचना द्वारा उस पर विधायी नियंत्रण कर पाने में सफल होती है। यद्यपि यह सन्देह व्यक्त किया जाता है कि संसद के सदस्य विशेषज्ञता के अभाव में यह नियंत्रण प्रभावी तरीके से नहीं कर पाते हैं।[29] संसद के नियंत्रण की एक और सीमा की ओर भी आलोचकों ने संकेत किया है कि प्रायः यह देखा गया है कि आयोग के प्रतिवेदन दो वर्ष से भी अधिक समय बीतने के पश्चात् संसद के पटल पर रखे जाते हैं जिसके कारण संसद का यह नियंत्रण मरणोपरान्त शल्यक्रिया के समान बनकर रह जाता है।[30]

III. आयोग और न्यायपालिका (Commission and Judiciary)

संघ लोकसेवा आयोग के कार्यकरण को विधिक चुनौती दिए जाने की स्थिति में न्यायपालिका उस पर विचार कर सकती है। आयोग को प्रशासनिक अधिकारियों की भर्ती का महत्वपूर्ण कार्य करना होता है तथा पदोन्नति व अनुशासनिक मामलों में भी यह केन्द्र सरकार का प्रमुख परामर्शदाता है, अतः आयोग इन कार्यों को निष्पक्षता और ईमानदारी से कर रहा है या नहीं, न्यायपालिका अवसर आने पर इसकी परीक्षा कर सकती है। अनेक अवसरों पर, चुनौती दिए जाने पर, न्यायपालिका ने सम्बन्धित नियमों और विनियमों की व्याख्या भी की है। न्यायपालिका की यह व्याख्या प्रायः सरकार और आयोग दोनों के द्वारा स्वीकार की गई है। यद्यपि सरकार इस बात के लिए स्वतंत्र होती है कि यदि वह न्यायपालिका की व्याख्या से संतुष्ट न हो तो सम्बन्धित प्रावधानों में संशोधन के प्रस्ताव पारित करा सकती है।

समीक्षा

इस प्रकार संघ लोकसेवा आयोग को यह गुरुतर दायित्व दिया गया है कि अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाओं में राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रहकर निष्पक्ष भर्ती का कार्य करे। उससे विभिन्न कार्मिक मामलों में भारत सरकार को निष्पक्ष परामर्श देने की अपेक्षा भी की जाती है। मोटे तौर पर संघ लोकसेवा आयोग अपने इन दायित्वों का

11:52
44

यान ऐसे मामलों की आ

प्रायः सामान्य बात हो गई
स्पष्ट करना होता है।

बन्धों को परिभाषित किया
म के कृत्यों में विस्तार कर
तिवर्ष आयोग के प्रतिवेदनों
के आयोग के कार्य संचालन
रिवर्तन और संशोधन सुझा
कारण आयोग के कार्य में
र्षिक प्रतिवेदन पर विचार-
पर विधायी नियंत्रण कर
ा है कि संसद के सदस्य
कर पाते हैं।[25] संसद के
किया है कि प्रायः यह देखा
बीतने के पश्चात् संसद के
मरणोपरान्त शल्यक्रिया के

ciary)

दिए जाने की स्थिति में
निक अधिकारियों की भर्ती
क मामलों में भी यह केन्द्र
निष्पक्षता और ईमानदारी
ीक्षा कर सकती है। अनेक
नियमों और विनियमों की
और आयोग दोनों के द्वारा
त्र होती है कि यदि वह
नों में संशोधन के प्रस्ताव

दिया गया है कि अखिल
मुक्त रहकर निष्पक्ष भर्ती
को निष्पक्ष परामर्श देने
ग अपने इन दायित्वों का

पूरी निष्ठा और निष्पक्षता से निर्वाह कर रहा है। वर्तमान में सूचना के अधिकार अधि
के कारण आयोग की कार्यप्रणाली को पारदर्शी बनाये जाने को लेकर आयोग को
समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। अतः वर्तमान समय में बढ़े हुए काय
व्यवहारों को लेकर आयोग को चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। संविध
अनुच्छेद 321 के अधीन सम्बन्धित संसदीय विधि के माध्यम से संघ लोक सेवा आय
अधिकार क्षेत्र में, वैश्वीकरण व उदारीकरण चुनौतियों के प्रसंग में उसके अधिकार
विस्तार किया जा सकता है। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा भर्ती व साक्षात्कार से सम्ब
अपने मूल कार्यों में आधुनिक तरीकों के समावेश को भी प्रोत्साहित किया जा सकत

सन्दर्भ

1. एम.ए. मुतालिब, "केन्द्रीय लोकसेवा आयोग" संकलित प्रो. इकबाल नारायण, *भारतीय*
एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1074, पृष्ठ, सं. 308
2. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 315 (1)
3. उपर्युक्त, अनुच्छेद 315 (2)
4. उपर्युक्त, अनुच्छेद 315 (4)
5. *संघ लोकसेवा आयोग का प्रथम वार्षिक प्रतिवेदन*, पैरा 6
6. *संघ लोकसेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन*, 2006-2007, पृष्ठ सं. 1
7. ली आयोग का यह मत एम.ए. मुतालिब ने पूर्वोक्त लेख में उद्धृत किया है। पृष्ठ सं. 308-
8. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 316 (1)
9. उपर्युक्त
10. *संविधान सभा, वादविवाद खण्ड-9*, 1. 2. अगस्त, 1949; पृष्ठ सं. 592
11. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 316 (2)
12. उपर्युक्त, अनुच्छेद 316 (2) (क)
13. उपर्युक्त, अनुच्छेद 317 (क), (ख), (ग)
14. उपर्युक्त, अनुच्छेद 316 (3)
15. उपर्युक्त, अनुच्छेद 319 (क), (ख)
16. मुतालिब, पूर्वोक्त, पृष्ठ सं. 310
17. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 318
18. *संघ लोकसेवा आयोग, 18वां प्रतिवेदन*
19. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 322
20. उपर्युक्त, अनुच्छेद 323 (1)
21. एम.ए. मुतालिब का पूर्वोक्त लेख, पृष्ठ 312-313
22. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 320 (1)
23. उपर्युक्त, अनुच्छेद 320 (3)
24. उपर्युक्त

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

11:55

11

वित्त आयोग : संगठन एवं कार्य

(Finance Commission : Organisation and Functions)

भारत एक संघात्मक प्रणाली वाला देश है। किसी भी संघीय शासन के लिए उसके अनिवार्य लक्षणों में एक यह भी है कि उसमें केन्द्र और उसकी विभिन्न इकाइयों के मध्य अधिकारों और कर्तव्यों का स्पष्ट विभाजन होना चाहिए। संघीय शासन व्यवस्था का यह लक्षण भारतवर्ष में भी पाया जाता है। भारत के संविधान द्वारा केन्द्र और उसकी इकाइयों अर्थात् राज्यों के कार्य क्षेत्र की स्पष्ट और विस्तृत व्यवस्था की गई है।

भारत के संविधान की 7वीं अनुसूची में केन्द्र और राज्यों के विधायी अधिकारों का तीन सूचियों के माध्यम से विभाजन किया गया है। शक्तियों के विभाजन की यह योजना भारत सरकार अधिनियम, 1935 के प्रावधानों से प्रभावित प्रतीत होती है। इस अधिनियम में भी विधायी शक्तियों का केन्द्र और राज्यों के बीच बँटवारा तीन सूचियों के माध्यम से किया गया था। विधायी शक्तियों का यह विभाजन अग्रांकित सूचियों के माध्यम से किया गया है। संघीय सूची में आरम्भ में 97 विषय रखे गये थे। कुछ परिवर्तनों के पश्चात् अब इस सूची में 100 विषय हो गये हैं।[1] इस सूची में रक्षा, वैदेशिक मामले, बैंकिंग, मुद्रा और केन्द्रीय कर इत्यादि ऐसे विषय सम्मिलित हैं जो राष्ट्रीय महत्त्व के हैं। इन पर विधि निर्माण की अनन्य शक्ति संघीय सरकार को प्राप्त है। दूसरी सूची राज्य सूची है जिसमें आरम्भ में 66 विषय रखे गये थे और अब 61 विषय रह गये हैं।[2] सार्वजनिक व्यवस्था एवं पुलिस, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, कृषि, वन और राज्य में लगने वाले कर आदि ऐसे विषय इस सूची में संलग्न हैं जिनका प्रत्येक राज्य के लिए महत्त्व है। इन पर विधि निर्माण की शक्ति राज्यों के विधान मण्डल को प्राप्त है। तृतीय सूची को समवर्ती सूची कहा गया है जिसमें आरम्भ में 47 विषय रखे गये थे जो अब 52 हो गये हैं।[3] इस सूची में फौजदारी कानून और प्रक्रिया, विवाह अनुबन्ध, न्यास, बीमा, श्रमिकों का कल्याण शिक्षा और आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन आदि ऐसे विषय सम्मिलित हैं जो संघ औ

राज्य दोनों के लिए समान महत्व के हैं। इस सूची पर विधि निर्माण की शक्ति, संघीय
व्यवस्थापिका और राज्यों की व्यवस्थापिका दोनों को है लेकिन संविधान में यह प्रावधान
भी किया गया है कि संघ सरकार और राज्य सरकार द्वारा एक ही विषय पर बनाई गई
विधि में कोई मतभेद की स्थिति उत्पन्न हो तो संघीय विधि मान्य समझी जाएगी। इस
सम्बन्ध में यह प्रावधान भी है कि राज्य की ऐसी विधि पर राष्ट्रपति की स्वीकृति लिए जाने
पर राज्य का कानून मान्य समझा जाएगा, किन्तु ऐसी स्थिति में भी संघीय संसद को यह
अधिकार होगा कि वह राज्य की ऐसी विधि को अपनी नई विधि के माध्यम से प्रभाव शून्य
कर सकेगी।[4]

हमारे संविधान में संघ और राज्य सरकारों के मध्य शक्तियों के विभाजन की तीन
सूचियों के माध्यम से जो उक्त योजना प्रस्तुत की गई है उनमें परिगणित विषयों के अलावा
यदि और कोई विषय परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न हो जाए, या जो परिगणना करने से
रह गया हो तो ऐसे विषयों के लिए एक अवशिष्ट सूची (Residuary list) बनाई गई है।
इस अवशिष्ट सूची पर विधि निर्माण की शक्ति संघीय सरकार को दी गई है।

संविधान में ही अन्य शक्तियों के साथ-साथ देश में उपलब्ध वित्तीय साधनों का भी
संघीय सरकार और राज्यों की सरकारों के बीच विभाजन किया गया है। यह सर्वविदित है कि
कोई भी संगठन वित्त के अभाव में कार्य नहीं कर सकता। दोनों ही स्तरों पर तीन सूचियों के
माध्यम से जो शक्तियां और दायित्व सरकार को सौंपे गये हैं, उनका निर्वाह पर्याप्त वित्तीय
साधनों के अभाव में उचित प्रकार से नहीं किया जा सकता। भारत के वर्तमान संविधान में,
भारत सरकार अधिनियम 1935 के प्रावधानों को अपनाते हुए संघीय सरकार और राज्य
सरकारों के बीच वित्तीय साधनों के आवंटन के पर्याप्त व्यापक प्रावधान किए गये हैं। हमारे
संविधान निर्माताओं ने इन प्रावधानों का उल्लेख करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखा है कि
संघात्मक व्यवस्था की दोनों इकाइयों के मध्य वित्तीय स्रोतों का बँटवारा इस तरह से किया
जाए कि उसमें वितरण की समानता और न्याय-संगतता दिखाई दे।

भारत का संविधान इस बात का स्पष्ट प्रावधान करता है कि शासन के दोनों स्तरों–
केन्द्रीय संसद और राज्यों के विधान मण्डलों – को कर लगाने से सम्बन्धित शक्तियां पृथक्-
पृथक् दी गई है। उदाहरणार्थ राज्यों के विधान-मण्डलों को जहां कृषि भूमि पर कर लगाने
का अधिकार है[5] वहीं गैर कृषि भूमि पर कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय संसद को दिया
गया है।[6] इसी प्रकार अवशिष्ट सूची में सामान्यतः कर लगाने का अधिकार संसद में निहित
किया गया है।[7]

कर लगाने की इन शक्तियों के बारे में हमारे उच्चतम न्यायालय ने स्थिति को स्पष्ट
करते हुए अपने एक निर्णय में कहा है कि, "संघीय सूची में राजस्व के जो स्रोत आवंटित
किए गए है वे केवल संघीय सरकार के अनन्य उपयोग के लिए नहीं है बल्कि संविधान के
प्रावधानों के अन्तर्गत संसद द्वारा बनाई गई विधि के अधीन संघ और राज्यों के मध्य बांटे
जाते है। इस प्रकार वे सभी कर जो केन्द्र सरकार द्वारा लगाये जाते हैं, भारत की संचित
निधि का ही भाग नहीं बनते बल्कि उनमें से अनेक करों से प्राप्त राशि को राज्यों के बीच

11:55

44

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

...है जिसमें आरम्भ में 47 विषय रखे गये थे जो अब 52 ...
फौजदारी कानून और प्रक्रिया, विवाह अनुबन्ध, न्यास, बीमा, श्रमिकों का कल्याण, शिक्षा और आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन आदि ऐसे विषय सम्मिलित हैं जो संघ और

वितरित किया जाता है और इस प्रकार वह राशि राज्यों की संचित निधि का भाग बनती है। यही नहीं, उन करों की राशि, जो भारत की संचित निधि का भाग बनती है, का भी उपयोग राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। संघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच उक्त करों की राशि का बँटवारा जिन सिद्धान्तों पर किया जाना है तथा जिन सिद्धान्तों के आधार पर राज्य सरकारों को अनुदान दिया जाना है, उनका निश्चय एक उच्च शक्ति प्राप्त वित्त आयोग करेगा जिसका निर्धारण हमारे संविधान निर्माताओं ने एक उत्तरदायी संस्था के रूप में किया है। संविधान निर्माताओं ने यह अनुभव किया था कि राज्यों को जो वित्तीय स्रोत उपलब्ध कराये गए हैं, कदाचित् वे उनके लिए पर्याप्त न हों। अतः भारत सरकार को उनकी कल्याणकारी गतिविधियों को वित्तीय रूप से समर्थन देना होगा। संघीय सरकार की आय के स्रोत अनन्य रूप से संघीय गतिविधियों के लिए ही नहीं हैं बल्कि दूसरे शब्दों में संघ और राज्य एक ही आंगिक इकाई का निर्माण करते हैं जिसके अन्तर्गत आय के समस्त साधनों का सम्पूर्ण भारतवर्ष के हित के लिए उपयोग किया जा सके।[6]

उच्चतम न्यायालय के उक्त निर्णय से वित्त आयोग नामक उच्च अधिकार प्राप्त इस संस्था की आवश्यकता, उपयोगिता और प्रासंगिकता स्वयं स्पष्ट हो जाती है। उच्च न्यायालय के इसी निर्णय से यह भी उद्घटित हो रहा है कि राज्य सरकारों को संविधान ने जो वित्तीय स्रोत उपलब्ध कराये हैं उनसे वे अपने सम्पूर्ण कर्तव्यों का निर्वहन सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में यह स्वयंसिद्ध है कि उन्हें अतिरिक्त राजस्व के लिए संघीय सरकार पर निर्भर रहना पड़ेगा। संविधान के विभिन्न प्रावधानों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संघीय सरकार द्वारा आरोपित करों से प्राप्त राजस्व का कुछ भाग राज्यों में वितरित किया जाना है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि संघीय सरकार अपनी आय के साधनों में से कितना भाग, किन आधारों पर कितने समय तक, किस प्रकार राज्यों को वितरित करे ? क्या सभी राज्यों को समान मात्रा में आर्थिक सहायता दी जाये? क्या इस प्रकार दी जाने वाली सहायता से संघ, राज्य सम्बन्धों में कोई मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं? क्या विभिन्न राज्यों के कार्यों और उत्तरदायित्वों में कोई अन्तर नहीं है? इन समस्त तथ्यों का संघ और राज्यों के सम्बन्धों के सन्दर्भ में बदलती हुई परिस्थितियों के आलोक में समय-समय पर मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। संविधान निर्माताओं ने यह भी अनुभव किया कि एक समय में निश्चित की गई कोई व्यवस्था आने वाले समय के लिए निरन्तर उपयोगी नहीं हो सकती। यही कारण रहा कि भारत की संघीय व्यवस्था को गतिशील और लोचशील बनाये रखने की दृष्टि से तथा ऊपर उठाये गये विभिन्न प्रश्नों के समुचित समाधान की दृष्टि से ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर राष्ट्रपति को उचित सलाह देने के लिए संविधान में एक वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संघीय सरकार द्वारा राज्यों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता अथवा अनुदान (Grant-in-Aid) तथा करों से प्राप्त राशि का बँटवारा किन आधारों पर किया जाए जिससे :

1. विभिन्न राज्यों में असंतोष न हो,
2. उनके विकास में असन्तुलन न हो,
3. उन्हें आवश्यकता व परिस्थितियों के अनुसार सहायता मिले, और
4. संघ राज्यों में सौहार्द बना रहे।

वित्त आयोग का संगठन (Composition of Finance Commission)

भारत की संघीय प्रणाली में उपर्युक्त वर्णित आवश्यकताओं को आश्वस्त करने के लिये भारत के संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक पंचम वर्ष की समाप्ति पर, अथवा उससे पहले ऐसे समय पर, जब राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति आदेश द्वारा एक वित्त आयोग गठित किया जाएगा जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक सभापति और चार अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा।[9]

संविधान के इसी अनुच्छेद में आगे कहा गया है कि, "संसद विधि द्वारा उन अर्हताओं का, जो आयोग के सदस्यों के रूप में नियुक्ति के लिए अपेक्षित होंगी और उस रीति का, जिसके अनुसार उनका संवरण किया जाएगा, निर्धारण कर सकेगी।"[10]

संविधान के इस अनुच्छेद की अनुपालना में भारत की संसद द्वारा वित्त आयोग अधिनियम 1951, जिसे 1955 में संशोधित किया गया, पारित किया गया है। इस अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि आयोग का अध्यक्ष वह व्यक्ति नियुक्त किया जायेगा जिसे सार्वजनिक जीवन का अच्छा अनुभव प्राप्त हो। अध्यक्ष के अलावा जो अन्य चार सदस्य नियुक्त किये जायेंगे, उनकी योग्यताएं इस प्रकार निर्धारित की गई हैं :

(1) कोई ऐसा व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश हो या न्यायाधीश रह चुका हो अथवा न्यायाधीश नियुक्त किये जाने की योग्यता रखता हो,

(2) ऐसा व्यक्ति जिसे सरकार के वित्त और लेखा का विशिष्ट ज्ञान हो,

(3) ऐसा व्यक्ति जिसे वित्तीय मामलों और प्रशासन का व्यापक अनुभव हो,

(4) ऐसा व्यक्ति जो अर्थशास्त्र का विशेषज्ञ हो।

अधिनियम में यही कहा गया है कि अध्यक्ष के अलावा जो अन्य चार सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाएंगे वे उक्त योग्यताओं को धारण करने वालों में से होंगे। इसी अधिनियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि आयोग में सदस्यों को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति यह देखे कि जिस व्यक्ति को वे आयोग में सदस्य नियुक्त कर रहे हैं उसके कोई आर्थिक स्वार्थ तो नहीं है जो आयोग में नियुक्त होने पर उसके कर्तव्यों या कार्य प्रणाली को प्रभावित करे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संघीय सरकार द्वारा राज्यों को दी जा… वाली वित्तीय सहायता अथवा अनुदान (Grant-in-Aid) तथा करों से प्राप्त राशि क… बँटवारा किन आधारों पर किया जाए जिससे :

वित्त आयोग (संगठनात्मक व्यवस्था)

(संवैधानिक परिप्रेक्ष्य-अनुच्छेद 280)

वित्त आयोग अधिनियम 1951 (संशोधित 1955)

↓

अध्यक्ष

(सार्वजनिक जीवन का व्यापक अनुभव)

↓

सदस्य	सदस्य	सदस्य सचिव	सदस्य
(न्यायिक विशेषज्ञ)	(वित्त व लेखा विशेषज्ञ)	(वित्त एवं प्रशासनिक विशेषज्ञ)	(अर्थशास्त्र का विशेषज्ञ)

नवम्बर, 2007 में राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल द्वारा तेरहवें वित्त आयोग का गठन निम्न प्रकार किया गया है :

1. डॉ. विजय एल. केलकर	पूर्व वित्त सचिव	अध्यक्ष
2. प्रोफेसर इन्दिरा राजाराम	नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एण्ड पॉलिसी के प्रोफेसर	सदस्य
3. डॉ. अबुसलेह शरीफ	नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च के मुख्य अर्थशास्त्री	सदस्य
4. प्रोफेसर अतुल शर्मा	राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति	सदस्य
5. श्री बी. के. चतुर्वेदी	योजना आयोग के सदस्य	अंशकालिक सदस्य
6. श्री सुमित बोस	—	सचिव

वित्त आयोग के कार्य (Functions of Finance Commission)

संविधान के उसी अनुच्छेद (अनु. 280), जिसके द्वारा वित्त आयोग की रचना की गई है, में आयोग के कार्यों तथा कर्तव्यों का विवरण भी दिया गया है। प्रारम्भ में संविधान में वित्त आयोग के 3 कार्यों का उल्लेख किया गया था। लेकिन 73वें व 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् इसके कार्यों में वृद्धि की गई है। वर्तमान में इसके कार्य निम्न हैं–

(क) केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजनीय करों से प्राप्त शुद्ध राजस्व का वितरण तथा इसमें विभिन्न राज्यों का हिस्सा;

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों को दिए जाने वाले अनुदानों (Grants-in-Aid) के लिए सिद्धान्त;

(ग) राज्यों के वित्त आयोगों की सिफारिशों के आधार पर राज्यों की पंचायतों व नगरपालिकाओं के साधनों के पूरक के रूप में उनके समयीकृत कोष में वृद्धि के उपाय सुझाना; तथा

11:55

44

(ध) सुव्यवस्थित वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे हुए किसी अन्य विषय के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिश करेगा।[11]

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि केन्द्र व राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों के बारे में आयोग आवश्यक सिद्धान्तों के सुझाव राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है।

आयोग की कार्यविधि (Finance Commission At Work)

संविधान में ही इस बात की व्यवस्था की गई है कि वित्त आयोग अपनी कार्य प्रक्रिया स्वयं निर्धारित करेगा तथा अपने कृत्यों के पालन में उसे ऐसी शक्तियाँ प्राप्त होंगी जो संसद विधि द्वारा उसे प्रदान करे।[12]

संविधान के इस निर्देश से स्पष्ट हो जाता है कि वित्त आयोग एक ऐसी उच्च अधिकार प्राप्त संस्था है जिसे अपनी कार्य प्रक्रिया निर्धारित करने की शक्ति संविधान ने स्वयं स्वीकृत की है, इस हेतु कोई निश्चित दिशा-निर्देश सरकार जारी नहीं कर सकती। अब तक नियुक्त सभी वित्त आयोगों की समस्त कार्य प्रक्रिया पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी आयोगों की कार्य प्रक्रिया में प्रायः एकरूपता पाई जाती है।

वित्त आयोग की कार्य विधि को निम्न चरणों में समझा जा सकता है :

1. **सदस्य सचिव की नियुक्ति एवं तथ्य संकलन** (Appointment of Member Secretary and Data Collection)

वित्त आयोग की औपचारिक नियुक्ति से पूर्व ही इसके सदस्य सचिव (Member Secretary) को संघीय वित्त मंत्रालय में विशेष सचिव या ओ.एस.डी. (Officer on Special Duty) के रूप में नियुक्त किया जाता है जिससे वह आयोग के गठन के बारे में प्रारम्भिक कार्य आरम्भ कर दे और आयोग द्वारा वांछित आंकड़ों एवं सूचनाओं का संकलन कर सके। सदस्य सचिव ही विभिन्न केन्द्रीय मंत्रालयों, राज्य सरकारों तथा नियंत्रक और महालेखा परीक्षक और विभिन्न राज्यों के महालेखापालों को सम्बन्धित सूचनायें उपलब्ध कराने के लिए लिख देता है। केन्द्र सरकार तथा सभी राज्य सरकारों से यह आग्रह किया जाता है कि आयोग द्वारा विचाराधीन उस पांच वर्ष की अवधि, जिसके बारे में आयोग को सिफारिश करनी है, के आय और व्यय सम्बन्धी पूर्वानुमान प्रस्तुत किए जाएं। साथ ही विभिन्न केन्द्रीय करों और व्यय सम्बन्धी पूर्वानुमान प्रस्तुत किए जाएं। साथ ही विभिन्न केन्द्रीय करों और शुल्कों के अन्तरण (Devolution) के वर्तमान आधार के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण और इसमें परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव भी आमंत्रित किये जाते हैं। केन्द्रीय सरकार से आय कर की विभाजन योग्य राशि तथा अन्य केन्द्रीय करों और शुल्कों में राज्यों के संभावित हिस्से के बारे में भी विस्तृत विवरण मांगा जाता है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक तथा विभिन्न राज्यों के महालेखापालों से राज्यों के केन्द्रीय ऋण सम्बन्धी भुगतान के बारे में भी जानकारी देने का आग्रह किया जाता है।

इस प्रकार संघीय वित्त मंत्रालय में नियुक्त यह विशेष पदाधिकारी वित्त आयोग

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

उपाय सुझाना; तथा

की नियुक्ति के पूर्व आवश्यक सूचनाओं का संकलन कर वित्त आयोग के कार्य के लिए आवश्यक आधार भूमि तैयार कर देते हैं।

II. राज्यों से विचार विमर्श (Discussion with states)

वित्त आयोग समस्त सूचनाओं के उपलब्ध हो जाने के पश्चात् प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करता है। यह विचार-विमर्श औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार का होता है। विचार-विमर्श के लिए विभिन्न राज्यों से वित्त आयोग के केन्द्रीय कार्यालय तक आने या स्वयं वित्त आयोग के राज्य की राजधानियों तक आने का निर्धारण आयोग स्वयं करता है। आमतौर पर यह देखा गया है कि वित्त आयोग के सभी सदस्य राज्यों से विचार-विमर्श करने तथा उनके दृष्टिकोण से अवगत होने के लिए राज्यों का दौरा करते हैं। अपने इस विचार-विमर्श में वित्त आयोग के सदस्य राज्यों के मुख्यमंत्रियों, वित्त मंत्रियों और अन्य मंत्रियों से वित्तीय साधनों के एकत्रण, वितरण और तत्सम्बन्धी नीतियों के सामान्य सिद्धान्तों पर चर्चा करते हैं। इसी विचार-विमर्श में वित्त आयोग के पदाधिकारी राज्य सरकारों के वित्तीय अधिकारियों से वित्तीय स्थिति के बारे में उनके अनुमानों और पूर्वानुमानों पर गहन चर्चा करते हैं। इन परिचर्चाओं के दौरान जो नीति सम्बन्धी मामले उभर कर आते हैं उन पर पुनः राज्य के मन्त्रिमण्डल के साथ परिचर्चा और मन्त्रणा की जाती है। राज्य का महालेखापाल इन सभी परिचर्चाओं में औपचारिक रूप से उपस्थित रहता है। राज्य सरकारों के साथ होने वाली इन औपचारिक मन्त्रणाओं के अलावा वित्त आयोग सम्बन्धित राज्य के महालेखापाल से भी पृथक् से चर्चा आयोजित कर सकता है। वित्त आयोग की पहल पर आगामी पांच वर्षों के लिए वित्तीय सहायता के आधार सुझाने वाली यह वित्तीय परिचर्चा अत्यन्त गंभीर किस्म की मन्त्रणा मानी जाती है। वित्तीय उलझन के इतने अधिक जटिल प्रश्न इन परिचर्चाओं में प्रकट होते हैं कि उन पर कोई अंतिम निर्णय करने के पूर्व, केन्द्रीय वित्त मंत्रालय के अधिकारियों, नियंत्रक और महालेखा परीक्षक, रिजर्व बैंक के अधिकारियों तथा राज्य के महालेखाकारों से भी सूचनाओं का आदान-प्रदान और विचार-विमर्श किया जाता है।

III. नागरिकों एवं गैर-सरकारी संगठनों से विचारों का आमंत्रण (Inviting views of citizens and non-government organizations)

वित्त आयोग न केवल सरकारी स्तर पर इस तरह की औपचारिक मंत्रणा करता है अपितु एक विज्ञप्ति जारी कर आम नागरिकों और विभिन्न सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों से भी विचाराधीन मामलों के बारे में उनके ज्ञापन अथवा विचार आमंत्रित करता है। प्रायः यह देखा गया है कि वाणिज्य और उद्योग का सशक्त दबाव समूह "चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री" संसद सदस्य, विधान सभा सदस्य, विश्वविद्यालय के जागरूक शिक्षक, अर्थशास्त्री तथा राज्य के विकास और उसके अर्थशास्त्र में रुचि रखने वाले विद्वान आयोग को अपने स्मरण-पत्र भेजते हैं, आवश्यक होने पर विचार-विमर्श का समय माँगते हैं। आयोग भी अपने प्रतिवेदन को अन्तिम रूप देते समय समाज के इन विभिन्न वर्गों के जागरूक व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत विचारों को उचित महत्व देता है।

IV. प्रतिवेदन लेखन एवं परामर्श (Report writing and advice)

वित्त आयोग द्वारा इस चरण में प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। इस प्रतिवेदन को राष्ट्रपति के समक्ष परामर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ यह जान लेना प्रासंगिक है कि संविधान के प्रावधानों के अनुसार वित्त आयोग केवल एक **परामर्शदात्री संस्था** (Advisory Body) है और राष्ट्रपति उसकी अभिशंसाओं को मानने के लिए बाध्य नहीं है। संविधान में सिर्फ इतना ही कहा गया है कि राष्ट्रपति इस संविधान के उपबन्धों के अधीन वित्त आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश को उस पर की गई कार्यवाही के व्याख्यात्मक ज्ञापन के सहित, संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा।[13] इसी तरह संविधान का अनुच्छेद 272 भी यही ध्वनित करता है कि वित्त आयोग की सिफारिशें सरकार के लिए परामर्शदात्री हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आठवें वित्त आयोग की अभिशंसाओं को प्रारम्भिक वर्ष में भारत सरकार ने यह तर्क देते हुए कि आयोग का प्रतिवेदन विलम्ब से प्राप्त हुआ है, वित्तीय कठिनाइयों के कारण इनकी सिफारिशों को तत्काल लागू नहीं किया। भारत सरकार के इस निर्णय ने समस्त राज्यों को आर्थिक और वित्तीय कठिनाई में डाल दिया और पश्चिमी बंगाल ने तो इस स्थिति के प्रति तीव्र विरोध प्रकट किया। यहाँ तक कि उसके उत्तरदायी अधिकारियों ने इस स्थिति के विरुद्ध मुकदमा दायर करने की धमकी भी दे डाली किन्तु बाद में यह धमकी वे क्रियान्वित नहीं कर सके। इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि संविधान का अनुच्छेद 280(3) केवल यह प्रावधान करता है कि वित्त आयोग अपनी अभिशंसाएं राष्ट्रपति को प्रस्तुत करेगा और अनुच्छेद 281 राष्ट्रपति पर इस कर्तव्य का आरोपण करता है कि इस प्रतिवेदन को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखेंगे। इससे स्पष्ट है कि इन प्रावधानों में यह कहीं प्रकट नहीं होता कि वित्त आयोग द्वारा प्रस्तुत ये अभिशंसाएं भारत सरकार के लिए बाध्यकारक होंगी और न ही इससे यह आशय ध्वनित होता है कि इन अनुशंसाओं को न माने जाने की स्थिति में राज्यों के कोई विधिक अधिकार उत्पन्न होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिफारिशों के न माने जाने या उनके मानने में विलम्ब किये जाने की स्थिति में राज्यों के लिए एक गंभीर स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, किन्तु इससे राज्य सरकारें संघीय सरकार का विरोध करने के लिए कोई सांविधानिक आधार प्राप्त नहीं करतीं। इसके विरुद्ध जो संरक्षण उन्हें मिले हुए हैं वह सामयिक चुनाव और मतपेटी ही माने जा सकते है। पश्चिम बंगाल की सरकार ने दिसम्बर, 1984 के चुनावों के भारत सरकार द्वारा आठवें वित्त आयोग की सिफारिशों को मानने में विलम्ब को एक चुनावी मुद्दा बनाया था। पश्चिमी बंगाल सरकार वैधानिक कार्यवाही करने के लिए प्रयत्नों के बाद कोई सांविधानिक आधार नहीं खोज सकी। इस प्रकार राष्ट्रपति की सांविधानिक स्थिति यह है कि वित्त आयोग संघीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान के आधार सुझाता है। साथ ही संविधान में यह प्रावधान है कि राज्यों को विशेष अनुदान देने के लिए संसद विधि द्वारा प्रावधान कर सकती है और जब तक संसद ऐसी विधि बनाये, राष्ट्रपति भी ऐसे विशेष अनुदान को देने के लिए आदेश दे सकते हैं। यद्यपि न तो अभी तक संसद ने विशेष अनुदान को देने के लिए ऐसी कोई विधि

बनाई है और न ही ऐसा आदेश दिया है इसलिए व्यवहार में अब तक नियुक्त समस्त वित्त आयोग की सिफारिशों को प्राय: सरकार द्वारा अंतिम रूप से अधिकांशत: स्वीकार किया गया है। यह परम्परा बन गई है कि केन्द्रीय सरकार ने वित्त आयोगों द्वारा प्रस्तुत की गई अभिशंसाओं को उसी रूप में स्वीकार कर लिया है जिस रूप में प्रस्तुत की जाती है, किन्तु यह सरकार के द्वारा स्थापित परम्परा मात्र है। सांविधानिक स्थिति यह है कि सरकार के समक्ष प्रस्तुत आयोग की सिफारिशें मात्र परामर्शदात्री है, उन्हें मानना या न मानना सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है।

अब तक नियुक्त वित्त आयोगों का विवरण (Finance Commissions Appointed So Far)

भारतवर्ष में स्वतंत्रता के पश्चात अब तक बारह वित्त आयोग नियुक्त किये जा चुके हैं। नीचे प्रस्तुत प्रथम सारिणी में अब तक नियुक्त किए गए वित्त आयोगों का विवरण द्रष्टव्य है :

सारिणी संख्या 1

वित्त आयोग	गठन वर्ष	प्रतिवेदन वर्ष	रिपोर्ट क्रियान्वयन वर्ष	अध्यक्ष
प्रथम	1951	1953	1952-57	श्री के. सी. नियोगी
द्वितीय	1956	1957*	1957-62	श्री के. सन्थानम
तृतीय	1960	1962	1962-66	श्री ए. के. चन्दा
चतुर्थ	1964	1965	1966-69	डॉ. पी. वी. राजमन्नार
पंचम	1968	1969*	1969-74	श्री महावीर त्यागी
षष्ठम्	1972	1973	1974-79	श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी
सप्तम्	1977	1978	1979-84	न्यायमूर्ति जे. एम. शेलट
अष्टम्	1982	1984*	1984-89	श्री वाई. बी. चव्हाण
नवम्	1987	1989	1989-95	श्री एन. के. पी. साल्वे
दशम्	1992	1994	1995-2000	श्री के. सी. पन्त
एकादश	1998	2000*	2000-05	श्री ए. एम. खुसरो
द्वादश	2002	2004	2005-10	डॉ. सी. रंगराजन
त्रयोदश	2007	2009	2010-15	डॉ. विजय एल. केलकर

* चिह्नित वित्त आयोगों ने अन्तिम प्रतिवेदन से पूर्व अन्तरिम प्रतिवेदन भी प्रस्तुत किया था।

ग्यारहवें वित्त आयोग का गठन 1998 में किया गया था। उसे प्रतिवेदन 31 दिसम्बर 1999 तक देना था लेकिन राष्ट्रपति की विशेष अनुमति से प्रतिवेदन 7 जुलाई, 2000 को प्रस्तुत किया जो कि 1 अप्रेल, 2000 से 2005 तक के लिए प्रभावी रहा। 2005 से 2010 तक के लिए परामर्श देने के लिए बारहवें वित्त आयोग का गठन डॉ. सी. रंगराजन की अध्यक्षता में 2002 में किया गया जिसने 2004 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था।

सारिणी संख्या 2

विशेष अनुदान देने के लिए संसद विधि द्वारा प्रावधान कर सकती है और जब तक संसद ऐसी विधि बनाये, राष्ट्रपति भी ऐसे विशेष अनुदान को देने के लिए आदेश दे सकते हैं। यद्यपि न तो अभी तक संसद ने विशेष अनुदान को देने के लिए ऐसी कोई विधि

वर्ष 2007 में तेरहवें वित्त आयोग का गठन किया गया है। जो वर्ष 2010-15 तक के लिए सिफारिशें प्रस्तुत करेगा जिसमें केन्द्र और राज्यों की वित्तीय स्थिति की भी समीक्षा की जायेगी। स्थायित्व देने वाले राजकोषीय वातावरण को तैयार करने के लिए भी यह सिफारिशें देगा। आयोग द्वारा राष्ट्रीय आपदा आकस्मिक निधि और आपदा राहत निधि के लिए निर्धारित शर्तों के अनुसार वित्तीय संसाधन जुटाने के बारे में भी सिफारिश की जायेगी आयोग द्वारा पाँच वर्ष की अवधि के दौरान राजस्व जुटाने के प्रयासों के लिए भी सिफारिश की जायेगी। अप्रैल 2010 से अस्तित्व में आने वाले गुड्स एण्ड सर्विसेज टैक्स (GST) के घरेलू स्तर और विदेश व्यापार पर होने वाले अवसर के बारे में भी यह सिफारिशें देगा।

आयोग की सिफारिशें (Recommendations of Commission)

वित्त आयोग द्वारा की जाने वाली सिफारिशों को मुख्यत: तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) आयकर तथा उत्पादन शुल्क व अन्य केन्द्रीय करों के विभाजन और वितरण से सम्बन्धित सिफारिशें;

(2) राज्यों की सहायता अनुदान (Grant-in-aid) देने सम्बन्धी सिफारिशें; तथा

(3) राज्यों को दिए जाने वाले केन्द्रीय ऋण सम्बन्धी सिफारिशें।

लेकिन उपर्युक्त प्रमुख सिफारिशों के अतिरिक्त अन्य सिफारिशें भी दी जाती हैं जिनकी अपेक्षा उनके गठन के समय की जाती है। जैसे ग्यारहवें वित्त आयोग को स्थानीय संस्थाओं के क्रम में 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के बाद राज्यों में बने वित्त आयोगों की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए व्यावहारिक सुझाव देने को कहा गया था। लेकिन विभिन्न आयोगों की सिफारिशों का अध्ययन उपर्युक्त तीन प्रमुख सिफारिशों के आधार पर किया जा रहा है।

आयकर का केन्द्र और राज्य सरकारों में विभाजन

भारत में संविधान के अनुच्छेद 270 के अनुसार कृषि के अलावा आयकर का आरोपण तथा एकत्रण संघीय सरकार द्वारा किया जाता है किन्तु इससे होने वाली शुद्ध आय का केन्द्र और राज्य सरकारों में विभाजन किया जाता है। आय का यह विभाजन बाध्यकारी है। संघीय सरकार और राज्य सरकारों में इस आय के विभाजन हेतु संविधान ने वित्त आयोग का प्रावधान किया है जिसे यह दायित्व दिया गया है कि केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों के मध्य आयकर से होने वाली आय के विभाजन का आधार सुझाए।

आयकर से होने वाली आय के केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों में विभाजन के सम्बन्ध में वित्त आयोग ने जो सिफारिशें की है उन्हें सारिणी संख्या 2 में व्यवस्था दी गई है :

प्रस्तुत किया जो कि 1 अप्रेल, 2000 से 2005 तक ... बारहवें वित्त आयोग का गठन डॉ. सी. रंगराजन की अध्यक्षता में 2002 में किया गया जिसने 2004 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था।
2010 तक के लिए परामर्श देने के लिए

सारिणी संख्या 2

आयकर के सम्बन्ध में वित्त आयोग की सिफारिशें

वित्त आयोग	आयकर के सम्बन्ध में राज्यों का हिस्सा (प्रतिशत)	राज्यों को वितरण करने का आधार	
		जनसंख्या	कर-संकलन
पहला	55.0	80	20
दूसरा	60.0	90	10
तीसरा	66.0	80	20
चौथा	75.0	80	20
पांचवा	75.0	90	10
छठा	80.0	90	10
सातवां	85.0	90	10
आठवां	85.0	90	10 (पिछड़ेपन
नवां	85.0	90	10 के आधार)
दसवां	77.5	20	80
एकादश	80.0	10	90
द्वादश	*	*	*

* 12वें वित्त आयोग ने विभाजन योग्य केन्द्रीय करों की निवल प्राप्तियों (Net Receipts) का 30.5% राज्यों को हस्तांतरित करने की अनुशंसा की थी।

इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि आयकर से होने वाली आय में से राज्यों को दिए जाने वाले हिस्से की राशि में निरन्तर वृद्धि हुई है। प्रथम वित्त आयोग ने राज्यों को इस आय में से जहाँ केवल 55 प्रतिशत हिस्सा दिया था वहीं ग्यारहवें वित्त आयोग के आते-आते राज्यों का यह हिस्सा 80 प्रतिशत तक पहुँच गया है। राज्यों को दी जाने वाली इस राशि के वितरण का आधार अधिक से अधिक न्यायसंगत हो, इस दृष्टि से वित्त आयोगों ने इस आय के वितरण हेतु प्रमुख रूप से जनसंख्या को आधार बनाया है। नवें वित्त आयोग ने राज्यों के पिछड़ेपन को दूर करने तथा उनके विकास में संतुलन स्थापित करने की दृष्टि से यह सिफारिश की है कि आयकर का 90 प्रतिशत हिस्सा उन्हें जनसंख्या के आधार पर दिया जाए। जबकि दसवें व ग्यारहवें वित्त आयोग ने प्रमुख आधार के रूप में कर-संकलन को स्वीकार किया है। 12वें वित्त आयोग ने इसे और भी सरल बना दिया है।

इसी प्रकार न केवल राज्यों को बल्कि केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए भी इस आय का हिस्सा वित्त आयोगों ने निश्चित किया है। यह हिस्सा प्रथम वित्त आयोग ने 2.75 प्रतिशत तथा आठवें वित्त आयोग ने 2.29 प्रतिशत निश्चित किया है। प्रथम से लेकर ग्यारहवें वित्त आयोग तक केन्द्र शासित प्रदेशों का यह हिस्सा न्यूनतम 1 प्रतिशत और अधिकतम 2.75 प्रतिशत रहा है। ग्यारहवें वित्त आयोग ने आयकर को 10 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर 1991 की जनसंख्या, 62.5 प्रतिशत प्रतिव्यक्ति आय के अन्तर के आधार पर, 7.5 प्रतिशत समायोजित क्षेत्र के आधार पर, 7.5 प्रतिशत आधारभूत संरचना सूचकांक के आधार पर, तथा 5 प्रतिशत कर प्रयासों के आधार पर देना सुझाया था।

उत्पादन शुल्क के संदर्भ में वित्त आयोगों की सिफारिशें

संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क को भी केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विभाजन योग्य माना गया है। प्रथम वित्त आयोग ने तम्बाकू, दियासलाई तथा शाक उत्पादनों पर उत्पादन शुल्क से प्राप्त आय को केन्द्र व राज्यों के बीच विभाजन योग्य माना था।

उत्पादन शुल्क के सम्बन्ध में सांविधानिक स्थिति यह है कि संविधान के अनुच्छेद 272 ने उत्पादन शुल्क से सम्बन्धित नीति निर्धारण करने का दायित्व संसद पर छोड़ा है जबकि अनुच्छेद 280 ने वित्त आयोग को केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच विभाजन योग्य करों के लिए सिफारिश प्रस्तुत करने का निर्देश दिया है। प्रथम वित्त आयोग ने इसीलिए उत्पादन शुल्क से सम्बन्धित केवल कुछ ही मदों से प्राप्त आय के वितरण हेतु अपनी सिफारिश प्रस्तुत की थीं। प्रथम वित्त आयोग के सदस्यों का यह विचार था कि जो कुछ भी सिफारिश वे इस सम्बन्ध में प्रस्तुत करेंगे वह संविधान के प्रावधानों के अनुसार संसद की विधि के माध्यम से ही क्रियान्वित हो सकेगी। इस तरह जहाँ प्रथम वित्त आयोग ने केवल तीन वस्तुओं के उत्पादन शुल्क के वितरण की सिफारिश की, वहीं द्वितीय वित्त आयोग ने आठ वस्तुओं और तृतीय ने 35 वस्तुओं तथा बाद के वित्त आयोगों ने इससे भी अधिक वस्तुओं से प्राप्त उत्पादन शुल्क को वितरण के लिए अपनी सिफारिशों में शामिल किया है। सारिणी संख्या 3 में इस सम्बन्ध में अब तक वित्त आयोगों द्वारा की गई सिफारिशों की व्यवस्था की गई है।

सारिणी संख्या 3

उत्पादन शुल्क के सम्बन्ध में वित्त आयोगों की सिफारिशें

आयोग	उत्पादन शुल्क में से जनसंख्या को हिस्सा (प्रतिशत)	वितरण का आधार	
		जनसंख्या (प्रतिशत)	अन्य परिस्थितियों (राज्यों का पिछड़ापन आदि) (प्रतिशत)
पहला	40.0	40	60
दूसरा	25.0	–	–
तीसरा	20.0	–	–
चौथा	20.0	80	20
पांचवा	20.0	80	20
छठा	20.0	75	25
सातवां	40.0	–	25 (अन्य आधार)
आठवां	40.0	–	–
नवम्	45.0	–	–
दसवां	47.5	–	–
एकादश	52.0	–	–
द्वादश	*	*	*

* 12वें वित्त आयोग ने विभाजन योग्य केन्द्रीय करों की निवल प्राप्तियों (Net Receipts) का 30.5% राज्यों को हस्तांतरित करने की अनुशंसा की थी।

इस प्रकार आय कर तथा उत्पादन शुल्क दो ऐसे प्रमुख कर हैं जिनके केन्द्र व राज्यों के बीच वितरण हेतु वित्त आयोगों द्वारा प्रमुख रूप से सिफारिश की जा रही है।

करों के इस वितरण के अतिरिक्त राज्यों को सहायता अनुदान देने के लिए भी वित्त आयोगों द्वारा आधार सुझाए गए हैं। दसवें वित्त आयोग ने वैकल्पिक व्यवस्था को अपनाने का सुझाव देते हुए अनुशंसा की है कि कुल केन्द्रीय कर राजस्व के 26 प्रतिशत और 3 प्रतिशत अतिरिक्त की गई व्यवस्था सहित कुल 29 प्रतिशत राजस्व राज्यों को हस्तान्तरित किया जाना चाहिए। इस हेतु संविधान संशोधन की आवश्यकता भी प्रतिपादित की गई है।

राज्यों को सहायता अनुदान (Grants-in-aid to States)

केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों के मध्य आय के साधनों का जो बंटवारा किया गया है उससे हमारी राज्य सरकारें केन्द्र सरकार पर आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक निर्भर करती हैं। देश के कल्याणकारी गतिविधियों और सामाजिक सेवाओं के निष्पादन का गंभीर दायित्व राज्य सरकारों पर छोड़ा गया है। इस दृष्टि से राज्य सरकार को अपनी कल्याणकारी और विकास सम्बन्धी योजनाओं के लिए जिस अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता होती है उसके लिए संविधान के अन्तर्गत राज्यों को अनुदान देने के स्पष्ट प्रावधान किए गए हैं। राज्य सरकारों को केन्द्र सरकार द्वारा दिए जाने वाले इस अनुदान को योजनागत अनुदान तथा गैर-योजना अनुदान में वर्गीकृत किया गया है। योजना अनुदान का निर्धारण योजना आयोग द्वारा किया जाता है जबकि गैर-योजना अनुदान का निश्चय वित्त आयोग द्वारा किया जाता है।

अनुदान के इस मद को साधारण शब्दों में केन्द्र के आर्थिक स्रोतों को राज्य सरकारों के लिए स्थानांतरित करने के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि राज्य सरकारों के आय और व्यय के बीच के असंतुलन को दूर करने के लिए केन्द्रीय स्रोतों से मदद को ही अनुदान कहते हैं। इस अनुदान का एक उद्देश्य भारत जैसे संघीय राज्य में विभिन्न राज्यों के बीच विकास के तुलनात्मक असंतुलन को दूर करने के रूप में भी देखा जा सकता है। सारतः यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण देश के संतुलित विकास को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय स्रोतों से राज्य सरकारों को अनुदान दिया जाता है।

यह संकेत पहले ही दिया जा चुका है कि संविधान में केन्द्र और राज्य सरकारों के मध्य आर्थिक साधनों का जो बंटवारा किया गया है उसमें केन्द्र सरकार के आर्थिक संसाधन राज्यों की तुलना में बहुत अधिक रखे गए हैं। ऐसी स्थिति में राज्य सरकारों को उनकी विकास योजनाओं तथा कल्याणकारी कार्यक्रमों के संचालन के लिए केन्द्रीय कोष से अनुदान दिया जाना पूर्णतः व्यावहारिक और उचित प्रतीत होता है।

प्रथम वित्त आयोग ने 1952 से 1957 की अवधि के लिए केन्द्रीय कोष से राज्यों को अनुदान देते समय राज्यों की बजट आवश्यकताओं, उनके कर लगाने के प्रयत्नों,

सामाजिक सेवाओं के स्तर, विशिष्ट दायित्व और राष्ट्रीय महत्त्व के व्यापक उद्देश्यों को मार्ग-दर्शन सिद्धान्तों के रूप में ध्यान रखने का सुझाव दिया था। प्रथम वित्त आयोग ने आठ राज्यों को प्राथमिक शिक्षा सुविधाओं के विकास के लिए अनुदान दिए जाने की सिफारिश की थी वहीं सात अन्य राज्यों को उनकी वित्तीय आवश्यकताओं के अनुरूप सामान्य अनुदान दिये जाने की अनुशंसा की थी। इसी प्रकार दूसरे वित्त आयोग ने इस संदर्भ में यह सिफारिश की थी कि केन्द्रीय कोष से राज्यों को अनुदान देते समय केवल इस तथ्य का ध्यान रखा जाना चाहिए कि केन्द्रीय अनुदान राज्यों को उनके आय-व्यय के असंतुलन को दूर करने में सहायक होता हो। दूसरे वित्त आयोग ने मुम्बई, चेन्नई और उत्तर प्रदेश के अलावा 11 राज्यों को 1957 से 1962 की अवधि के लिए 18.75 करोड़ रुपये का अनुदान देने की सिफारिश की थी। आयोग का यह मत था कि मुम्बई, चेन्नई और उत्तर प्रदेश को केन्द्रीय करों से प्राप्त उनका हिस्सा उनकी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त होगा इसलिए उन्हें अनुदान की सूची में शामिल नहीं किया गया।

तीसरे वित्त आयोग ने भी इस सन्दर्भ में पिछले आयोगों की सिफारिशों का अनुमोदन किया। इसने यह सुझाव दिया कि आयोग की वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण करते समय केवल अनियोजित व्यय को ही नहीं बल्कि नियोजित व्यय को भी ध्यान में रखना चाहिए। इसी प्रकार चौथे वित्त आयोग ने भी पिछले आयोगों की सिफारिशों को अनुमोदन करते हुए सुझाव दिया कि नियोजित अनुदान और विशेष कार्यक्रमों के लिए दिए जाने वाले अनुदान को सहायता अनुदान से पृथक् रखा जाना चाहिए। पाँचवें वित्त आयोग ने भी दस राज्यों को पाँच वर्ष की अवधि के लिये 637.85 करोड़ रुपये का अनुदान देने की अनुशंसा की। इसी प्रकार छठे वित्त आयोग ने 1974 से 79 की अवधि के लिये राज्यों के गैर योजना मद के घाटे की पूर्ति के लिए कुल 2,510 करोड़ रुपये अनुदान के रूप में देने की अभिशंसा की थी। सातवें वित्त आयोग ने राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान को दो भागों में बाँट दिया। सामान्य अनुदान के रूप में इसने राज्यों के गैर योजना मद के अन्तराल (Gap) की पूर्ति के लिए आठ राज्यों-मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, नागालैण्ड, सिक्किम, जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और उड़ीसा को 1,173 करोड़ रुपये सामान्य सहायता अनुदान के रूप में स्वीकृत किया वहीं दूसरी ओर कुछ पिछड़े हुए राज्यों को उनके प्रशासन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिये 437 करोड़ रुपये का पृथक् अनुदान देने की व्यवस्था की थी। वित्त आयोग ने यह भी सुझाया कि इन राज्यों को न्यायिक प्रशासन, राजस्व, जिला और जनजाति प्रशासन, पुलिस प्रशासन, जेल प्रशासन, और राजकोष प्रशासन के क्षेत्रों में वर्तमान प्रशासन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए यह विशेष अनुदान दिया जा रहा है।

आठवें वित्त आयोग ने भी गैर-योजना मद के राजस्व के अन्तराल को दूर करने के लिए 1985 से 1989 की अवधि के लिए घाटे वाले राज्यों को 1553.92 करोड़ रुपये अनुदान देने की संस्तुति की। घाटे की अर्थव्यवस्था के इन राज्यों में असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, मणिपुर, नागालैण्ड, उड़ीसा, सिक्किम, त्रिपुरा, और पश्चिम बंगाल

की गणना की गई। 1984 से 1986 तक के लिए राजस्थान को भी इसी श्रेणी में माना गया किन्तु 1986 के बाद की अवधि के लिए उसे इस श्रेणी में नहीं रखा गया।

आठवें वित्त आयोग ने सिफारिशों में राज्यों पर उनके कर्मचारियों को केन्द्र के समान महँगाई भत्ता देने के कारण पड़ने वाले बोझ को भी विचार का विषय बनाया और इस हेतु प्रतिवर्ष अनुदान को 5 प्रतिशत बढ़ाने का सुझाव दिया। सातवें वित्त आयोग की तरह ही प्रशासन के 9 क्षेत्रों– पुलिस, शिक्षा, जेल, जनजाति, स्वास्थ्य, न्याय, जिला और राजस्व, प्रशिक्षण, राजकोष और लेखा प्रशासन के प्रशासनिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए 808.08 करोड़ रुपये अनुदान देने की अभिशंसा की। इसी तरह कुछ विशेष समस्याग्रस्त राज्यों को अपनी विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिए भी अनुदान देने का सुझाव इस आयोग ने दिया था। दसवें वित्त आयोग ने सन् 1995-2000 के लिए 20,300 करोड़ रुपये के सहायता अनुदान की सिफारिश की थी।

ग्यारहवें वित्त आयोग ने 2000 से 2005 तक के लिए कुल राशियों के अन्तरण में 13.5 प्रतिशत हिस्सा अनुदानों का रखा था जिसकी राशि 58,587 करोड़ रुपये थी। इसके साथ ही इस वित्त आयोग ने स्थानीय निकायों के लिए प्रतिवर्ष 2,000 करोड़ रुपये के केन्द्रीय अनुदान की सिफारिश की थी जिसमें 1,600 करोड़ रुपये ग्रामीण निकायों के लिए तथा 400 करोड़ रुपये शहरी निकायों के लिए थे।

केन्द्र तथा राज्य सरकारों को ऋण सहायता

राज्य सरकारें अपनी आवश्यकता के अनुरूप केन्द्रीय सरकार से ऋण प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों पर पर्याप्त नियन्त्रण रखती है। दूसरे वित्त आयोग को राज्यों को दिए जाने वाले केन्द्रीय ऋण के बारे में सुझाव देने को कहा गया था। आयोग ने इस सम्बन्ध में सिफारिश की कि भविष्य में राज्य एक वर्ष में केवल दो बार ही ऋण प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। इनमे से एक दीर्घ अवधि ऋण होगा, दूसरा मध्य अवधि ऋण। चौथे वित्त आयोग ने ऋणग्रस्तता की समस्या के विस्तृत अध्ययन के लिये एक सक्षम निकाय स्थापित करने की सिफारिश की थी। पाँचवें वित्त आयोग ने यह पुरजोर सिफारिश की कि राज्यों को अपना बजट संतुलित रखना चाहिए और अपने वित्तीय साधनों में ही अपने कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिए। आयोग का दृष्टिकोण यह था कि अधिविकर्ष (Over Draft) सैद्धान्तिक रूप से असंधार्य (Untenable) तथा व्यावहारिक रूप से अवांछनीय है। आयोग का मत था कि राज्यों को न्यूनतम वित्त प्रबन्धन (Deficit Financing) नहीं अपनाना चाहिए और वित्तीय नीति संतुलित बजट तथा व्यय नियंत्रण पर आधारित होनी चाहिए। छठे वित्त आयोग ने राज्यों की ऋण स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया ओर 15 से 30 वर्ष के भीतर ऋणों को चुकाने की सिफारिश की। आयोग ने पंचवर्षीय योजनाकाल में 970 करोड़ रुपये की ऋण सहायता (Debt Relief) देने की की भी सिफारिश की। सातवें वित्त आयोग ने 5 वर्ष की अवधि के लिए ऋण देनदारी में 21 अरब 50 करोड़ की व्यवस्था की थी। आठवें वित्त आयोग ने इस हेतु

481.85 करोड़ रुपये की व्यवस्था की थी। दसवें वित्त आयोग ने राज्यों को दिए गए ऋणों में राहत की सिफारिश की जिसमें राजकोषीय निष्पादन, 'गम्भीर राजकोषीय संकट तथा लोक उद्यमों में उपनिवेश के लिए 5-5 प्रतिशत छूट के लिए प्रावधान है। इस तरह कुल 700 करोड़ रुपये की ऋण राहत दी है। ग्यारहवें वित्त आयोग ने मौजूदा ऋण राहत योजना को जारी रखने की सिफारिश की थी।

12वें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें

(क) सार्वजनिक वित्त के साधनों की पुनर्संरचना–

(i) केन्द्र और राज्य 2009-10 तक अपना संयुक्त कर-सकल घरेलू उत्पाद (GDP) अनुपात सुधार कर 17.6 प्रतिशत करें।

(ii) राजकोषीय घाटे का सकल घरेलू उत्पाद से अनुपात का लक्ष्य केन्द्र व राज्य में प्रत्येक के लिए 3 प्रतिशत पर निर्धारित किया जाना चाहिए।

(iii) राजस्व घाटे का सकल घरेलू उत्पत्ति से अनुपात, दोनों स्तरों पर 2008-09 तक शून्य होना चाहिए।

(iv) राज्यों का कुल वेतन-बिल उनके राजस्व-व्यय का, ब्याज की देनदारी व पेंशन को घटाकर, 35 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए।

(v) प्रत्येक राज्य राजकोषीय उत्तरदायित्व विधान अधिनियमित करें जिसमें 2008-09 तक राजस्व घाटा समाप्त करने व राजकोषीय घाटा कम करके राज्य के घरेलू उत्पाद के 3 प्रतिशत पर लाया जाये।

(ख) केन्द्रीय कर-राजस्व प्राप्तियों का विभाजन–

(i) विभाजनीय केन्द्रीय करों की शुद्ध प्राप्तियों में राज्यों का अंश 30.5 प्रतिशत होगा। इसके लिए बिक्री कर की एवज में लगे अतिरिक्त उत्पाद-शुल्कों को भी केन्द्रीय करों के सामान्य जोड़ में शामिल किया गया है। यदि राज्यों को इन वस्तुओं पर बिक्री कर (मूल्यवर्धित कर अर्थात् वैट) लागू करने की अनुमति दी जाती है तो राज्यों का यह अंश घटाकर 29.5 प्रतिशत कर दिया जायेगा।

(ii) संविधान के 88वें संशोधन की अधिसूचना के बाद सेवाकर के सम्बन्ध में कोई कानून बनाया जाता है तो इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि राज्य को मिलने वाला राजस्व उस राशि से कम न हो जो उसे उस स्थिति में मिलता जबकि सेवा कर की सम्पूर्ण राशि विभाजनीय कुल राशि का अंश होती है।

(iii) राज्यों को कुल हस्तान्तरण की राशि केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्ति के 38 प्रतिशत पर निर्धारित की जा सकती है।

(ग) स्थानीय निकाय–

(i) वर्ष 2005-10 की अवधि के लिए पंचायती राज संस्थाओं के लिए 20,000 करोड़ रुपए और शहरी निकायों के लिए 5,000 करोड़ रुपए का अनुदान दिया जाये।

(ii) पंचायतों के लिए अनुदानों का उपयोग करते समय जलापूर्ति एवं स्वच्छता की प्रचलन एवं अनुरक्षण लागतों पर व्यय को प्राथमिकता दी जाए।

(iii) शहरी स्थानीय निकायों के लिए अनुशंसित अनुदानों में से कम-से-कम 50 प्रतिशत सरकारी-निजी भागीदारी के माध्यम से ठोस अपशिष्ट प्रबन्धन योजना के लिए अलग से रखा जाए।

(घ) आपदा राहत–

(i) आपदा राहत निधि योजना 75:25 के अनुपात में केन्द्र और राज्यों से अंशदानों के साथ इसके वर्तमान रूप में जारी रहेगी, वर्ष 2005-10 की अवधि के लिए निधि का आकार 21,333 करोड़ रुपए आंकलित किया गया है।

(ii) इस निधि से व्यय की प्रतिपूर्ति राष्ट्रीय आपदा आकस्मिकता शुल्क के संग्रहण व विशेष अधिभार लगाकर की जाए।

(iii) राष्ट्रीय आपदा की परिभाषा में भू-स्खलन, हिम-स्खलन, बादल का फटना व कीटों के आक्रमण को शामिल किया जाए।

(iv) आपदा तैयारी व उन्मूलन के लिए प्रावधान आपदा राहत का नहीं वरन् राज्यों की आयोजनाओं का हिस्सा होंगे।

(ङ) राज्यों का सहायता अनुदान–

(i) राज्य योजनाओं के लिए अनुदान व ऋण संघटक वाली केन्द्रीय सहायता की वर्तमान प्रणाली को समाप्त किया जाएगा और केन्द्र स्वयं को आयोजना अनुदान देने तक सीमित रखे तथा उधारों के सम्बन्ध में निर्णय राज्यों पर ही छोड़ दे।

(ii) 15 राज्यों की आयोजना भिन्न राजस्व घाटा अनुदान के 56,856 करोड़ रुपए अनुशंसित किए गए, आठ राज्यों को शिक्षा क्षेत्र के लिए 10,172 करोड़ रुपए की राशि का अनुदान अनुशंसित किया गया, शिक्षा और स्वास्थ्य क्षेत्रों के लिए 5887.08 करोड़ रुपए की अनुदान राशि स्वीकृत की गई है।

(iii) सड़कों और पुलों के लिए 15,000 करोड़ रुपए का अनुदान अनुशंसित किया गया जो राज्यों के सामान्य व्यय के अतिरिक्त है।

(iv) राज्यों के सरकारी भवनों, वनों के संरक्षण के रख रखाव और विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए क्रमशः 500 करोड़ रुपए, 1000 करोड़ रुपए और 625 करोड़ रुपए और 7100 करोड़ रुपए के अनुदान अनुशंसित किए गए।

(च) ऋण राहत और सुधारात्मक उपाय–

(i) राज्यों के राजस्व घाटे कम करने से जुड़ी ऋण माफी योजना शुरु की जाए।

(ii) सभी राज्य और ऋणों के परिशोधन के लिए ऋणशोधन निधियों की स्थापना करेंगे।

(iii) राज्य अलग से रखी गारण्टी फीस के माध्यम से गारण्टी मोचन निधियों की स्थापना करेंगे।

11:56
44
Edit Annotate Fill & Sign Convert All

(छ) अन्य विवरण–

(i) जिन राज्यों में खनिज तेल व प्राकृतिक गैस निकली है, उनके साथ पैट्रोलियम का लाभांश केन्द्र व राज्य के बीच 50:50 होना चाहिए।

(ii) प्रत्येक राज्य 12वें वित्त आयोग द्वारा अनुशंसित अनुदानों के उपयोग का अनुवीक्षण करने के लिए उच्चस्तरीय समिति का गठन करे।

(iii) भारत सरकार द्वारा सार्वजनिक वित्त लेखाकारों का एक राष्ट्रीय संस्थान बनाया जाना चाहिए।

12वें वित्त आयोग द्वारा राज्यों की तरफ किया गया वित्तीय हस्तान्तरण (केन्द्रीय करों में अंश तथा विभिन्न प्रकार की सहायतार्थ अनुदान राशियाँ) में सभी राज्यों का हिस्सा कुल 613112.02 करोड़ रूपए है। जिसमें सर्वाधिक राशि 118209.45 करोड़ रूपए उत्तर प्रदेश को दी गई है जो कुल राशि का 19.28 प्रतिशत होती है। इसी प्रकार राजस्थान को 34418.56 करोड़ रूपए की राशि दी गई है जो कुल राशि का 5.61 प्रतिशत होती है।

12वें वित्त आयोग की सिफारिशों का सबल पक्ष

(1) 12वें वित्त आयोग ने केन्द्रीय करों व शुल्कों की शुद्ध प्राप्तियों का 30 प्रतिशत राज्यों को हस्तान्तरित करने की सिफारिश की है, जिससे राज्यों को पूर्व वित्त आयोग की सिफारिश की तुलना में 1 प्रतिशत अधिक राशि मिलेगी। इसी प्रकार इसने केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्तियों के 38 प्रतिशत तक के कुल हस्तान्तरण की सीमा लगायी है। इससे भी राज्यों को लाभ हुआ है।

(2) 12वें वित्त आयोग ने राज्यों की तरफ वित्तीय हस्तान्तरणों में सहायतार्थ- अनुदानों पर पहले से अधिक बल दिया है। वित्तीय हस्तान्तरणों में सहायतार्थ अनुदानों का अंश अब 23.3 प्रतिशत कर दिया है। जबकि पूर्व में यह 15.6 प्रतिशत ही था।

(3) 12वें वित्त आयोग ने पहले की मध्यकालीन-राजकोषीय-सुधार सुविधा (FRF) का समाप्त करके राज्यों को राजस्व घाटा कम करने की नई स्कीम सुझाई है।

(4) 12वें वित्त आयोग ने तेल व गैस उत्पादक राज्यों को लाभ में 50 प्रतिशत हिस्से दिये जाने की सिफारिश करके राज्यों के हितों की रक्षा की है।

(5) केन्द्र ने राज्यों को स्वयं कर्ज न देकर सीधे बाजार से कर्ज लेने की सिफारिश की है। इससे राज्यों को अपनी योजनाओं का आकार सही ढंग से निर्धारित करने में मदद मिलेगी।

(6) 12वें वित्त आयोग ने वित्त मन्त्रालय के तहत एक स्थायी वित्त आयोग सचिवालय की सिफारिश की है, जिससे केन्द्र-राज्य वित्त सम्बन्धों को अधिक अच्छी तरह से संचालित करने में मदद मिलेगी।

(7) 12वें वित्त आयोग ने राज्यों में केन्द्रीय कर-राजस्व के वितरण के सूत्र में जनसंख्या व राजकोषीय कार्यसिद्धि के आधारों को पहले से अधिक भार देकर उचित कदम

उठाया है। इससे एक तरफ अभावग्रस्त राज्यों को केन्द्र से अधिक राशि मिल सके और दूसरी तरफ राजकोषीय सुधार से राज्यों को प्रोत्साहन मिल सकेगा।

समीक्षा (Evaluation)

वित्त आयोग के गठन, उसके कार्य और उसके द्वारा प्रस्तुत सिफारिशें देखने से य स्पष्ट होता है कि यह आयोग एक महत्वपूर्ण सांविधानिक संस्था है जो भारत जैसे संघी राज्य के वित्तीय साधनों के समन्वित उपयोग की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करत है। वित्त आयोग की रचना के प्रावधान यद्यपि संविधान में दिए गए हैं किन्तु व्यावहारि रूप में आयोग का कार्यक्षेत्र केन्द्र सरकार पर निर्भर करता है। राष्ट्रपति द्वारा नियु किया जाने वाला यह आयोग व्यवहार में केन्द्र सरकार के द्वारा ही नियुक्त किया जाता और उसके कार्यक्षेत्र का निर्धारण भी केन्द्र सरकार ही करती है। केन्द्र सरकार, यदि चा तो, करों के विभाजन के सम्बन्ध में उसकी सीमाएं भी निर्धारित कर सकती है।

केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों को जो भी अनुदान दिया जाता है वह अनुदान पाने लिए कौन से राज्य पात्र हैं ? यह इस बात पर निर्भर करता है कि वित्त आयोग को कि राजस्व मदों पर सिफारिश करने को कहा गया है। उदाहरणार्थ, चौथे, पांचवे और छ वित्त आयोगों को राज्यों के बजट के केवल अनियोजित राजस्व के सम्बन्ध में ही अनुदा देने की सिफारिश करने को कहा गया था। ऐसी स्थिति में वित्त आयोग जैसी इस सांविधानि संस्था का कार्यक्षेत्र पर्याप्त सीमा तक केन्द्र सरकार द्वारा उसके गठन के लिए जा आदेश की भाषा पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पूर्व में भी संकेत कि जा चुका है कि वित्त आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है जिसकी अभिशंसाओं को मान या न मानना केन्द्र सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। यद्यपि इस सन्दर्भ में परम्प यह बनी है कि वित्त आयोग की समस्त सिफारिशों को प्राय: यथारूप स्वीकार कर लि जाता है फिर भी यह सब कुछ बाध्यकारी न होकर केवल केन्द्र सरकार के स्वविवेक निर्भर करता है। उदाहरणार्थ आठवें वित्त आयोग को 1984 से 1989 की अवधि लिए सिफारिश करने का दायित्व सौंपा गया था किन्तु केन्द्र सरकार ने इसका प्रतिवे एक अप्रेल 1985 से कार्यान्वित करने हेतु स्वीकार किया था। इस अवधि के प्रथम ए वर्ष के लिए सातवें वित्त आयोग द्वारा प्रचलित आधारों को ही मान्य समझा गया। पश्चि बंगाल की सरकार ने इस स्थिति का विरोध किया किन्तु उसका सार्थक परिणाम न निकल सका। ग्यारहवें वित्त आयोग की कुछ सिफारिशों को ही स्वीकार किया गया है, शे लम्बित हैं। इस प्रसंग में केन्द्र सरकार द्वारा लिया गया यह निर्णय इस बात का प्रत्यक्ष अ पर्याप्त प्रमाण है कि वित्त आयोग की सिफारिशों को केन्द्र सरकार अपनी इच्छा से मानती है, इन्हें मानने के लिए उस पर कोई बाध्यकारी सांविधानिक दायि नहीं है।

वित्त आयोग की भूमिका को एक अन्य गैर सांविधानिक संस्था ने पार्श्व में ड दिया है। संविधान के निर्माण के समय योजना आयोग जैसी संस्था की कल्पना संविध

(7) 12वें वित्त आयोग ने राज्यों में केन्द्रीय कर-राजस्व के वितरण के सूत्र में जनसंख्या व राजकोषीय कार्यसिद्धि के आधारों को पहले से अधिक भार देकर उचित कदम

निर्माताओं ने नहीं की थी। संविधान के प्रवर्तन के तुरन्त बाद योजना आयोग की स्थापना ने केन्द्र राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों में एक नया आयाम उपस्थित कर दिया है। राज्यों की समस्त विकास योजनाओं को योजना आयोग स्वीकृति देता है और इसी के अनुरूप योजना मद पर व्यय की स्वीकृति जारी होती है। इसलिए वर्तमान में वित्त आयोगों का कार्यक्षेत्र गैर योजना मद के राजस्व और व्यय के सन्दर्भ में सिफारिश देने तक सीमित हो गया है। वित्त आयोग केवल केन्द्रीय करों से राज्यों को दिए जाने वाले हिस्से और उनके गैर योजना मद के घाटे की पूर्ति के लिए केन्द्र सरकार से दिये जाने वाले अनुदान के विषय में अभिशंसा करता है। योजना मद के बारे में कोई सिफारिश उसके कार्यक्षेत्र में नहीं आती।

यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि राज्यों के व्यय का अधिकांश भाग योजना मद पर होता है और गैर-योजना मद पर तुलनात्मक रूप से खर्चा कम होता है। उदाहरणार्थ 1972-73 के वित्त वर्ष में कुल 982 करोड़ रुपये के राज्यों के अनुदान में 616 करोड़ रुपया योजना आयोग की सिफारिशों के अनुसार और केवल 366 करोड़ रुपया वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार दिया गया था। इसी प्रकार 1973-74 में 881 करोड़ रुपये में से योजना आयोग की सिफारिश पर 581 करोड़ और वित्त आयोग की सिफारिश पर केवल 300 करोड़ रुपया बाँटा गया था।[15] ये आंकड़े इस बात के प्रमाण हैं कि राज्य सरकारों का अधिकांश व्यय अब योजना आयोग की सिफारिशों के अनुसार संचालित होता है जबकि वित्त आयोग की सिफारिशों से संचालित होने वाली गैर-योजना मद की राशि तुलनात्मक रूप से अत्यन्त न्यून है। इस प्रकार यह एक ऐसी स्थिति है जिसकी कल्पना संविधान निर्माताओं ने कदापि नहीं की थी। सारतः योजना आयोग की उपस्थिति ने वित्त आयोग की उपस्थिति ने वित्त आयोग की भूमिका को गौण बना दिया है।

इस सन्दर्भ में चतुर्थ वित्त आयोग के अध्यक्ष डॉ. पी.बी. राजमन्नार ने भी यह मत व्यक्त किया था कि योजना आयोग जैसी संस्था का संविधान में कोई प्रावधान नहीं है ...उन्होंने यह सुझाव दिया था कि योजना आयोग तथा वित्त आयोग के तुलनात्मक कार्यक्षेत्र और दायित्व को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए। इसी तरह की धारणा पहले, द्वितीय और तृतीय वित्त आयोग के प्रतिवेदनों में व्यक्त की गई थी। छठे वित्त आयोग ने भी विस्तार से इस सन्दर्भ में अपनी राय व्यक्त की थी जिसमें भी योजना आयोग और वित्त आयोग के कार्यक्षेत्र के अतिव्यापन (Over-lapping) को दूर करने की सिफारिश की गई थी।

आलोचकों ने प्रति पाँच वर्ष बाद नियुक्त किये जाने वाले वित्त आयोग के प्रश्न पर एक स्थायी वित्त आयोग नियुक्त किए जाने की राय व्यक्त की है। इन लोगों का यह मत है कि वर्तमान में वित्त आयोग एक बार सिफारिश दे देने के बाद में उसका अनुवर्ती चिन्तन नहीं करता है। ऐसी स्थिति में अनेक बार वित्त आयोग की वास्तविक अभिशंसा और केन्द्र सरकार द्वारा उसे क्रियान्वित करते समय उसकी भावना में अन्तर आ जाने की संभावना को एक स्थायी वित्त आयोग के प्रावधान के द्वारा रोका जा सकता है।[16] इस

वित्त आयोग की भूमिका को एक अन्य गैर सांविधानिक संस्था ने पार्श्व में ड
दिया है। संविधान के निर्माण के समय योजना आयोग जैसी संस्था की कल्पना संविध

सन्दर्भ में सातवें वित्त आयोग द्वारा यह सुझाव भी दिया गया है कि एक विशेषज्ञ और गैर राजनीतिक संस्था की स्थापना केन्द्र-राज्य के वित्तीय सम्बन्धों के स्वस्थ परिचालन के लिए की जा सकती है। इसी संस्था को वित्त आयोगों की स्वीकृत सिफारिशों के यथारूप क्रियान्वयन का दायित्व भी सौंपा जा सकता है। इस सुझाव पर गंभीर विचार मंथन की आवश्यकता है।'[17]

अब तक नियुक्त वित्त आयोगों ने भारतवर्ष की संघीय व्यवस्था में केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों की स्वस्थ परिचालना में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। केन्द्र और राज्यों के मध्य संतुलन बनाये रखने में इसका योगदान पूर्णतः सकारात्मक रहा है। प्रो. डी. आर. गाडगिल का कहना है कि हमारे संविधान के वित्तीय प्रावधानों को लागू करने में वित्त आयोग की भूमिका संतोषजनक है।'[18]

इन सबके बावजूद भारतवर्ष में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के क्षेत्र में सबसे अधिक संवेदना का स्थल केन्द्र राज्यों का आर्थिक पक्ष ही रहा है। केन्द्र में स्वतंत्रता के बाद से लेकर अब तक, एक छोटे से काल को छोड़कर, कांग्रेस शासनारूढ़ रही है किन्तु विभिन्न राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारें केन्द्र सरकार पर आर्थिक पक्षपात का आरोप लगाती रही हैं। सरकारिया आयोग ने इस विषय में व्यापक छानबीन करके संविधान में संशोधन करने व राज्यों को अन्य मदों में से हिस्सा देने की सिफारिश की है। इस तथ्य पर अविलम्ब ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है कि वित्त आयोग जैसी सांविधानिक संस्था की स्थिति योजना आयोग जैसी गैर सांविधानिक संस्था से प्रभावित न हो। इस विषय में स्पष्ट प्रावधान हमारी संघात्मक व्यवस्था के स्वतंत्र संचालन में सहायक हो सकेंगे।

सन्दर्भ

1. भारत का संविधान, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, 2008
2. उपर्युक्त
3. उपर्युक्त
4. *भारत का संविधान*, अनुसूची 254 (2)
5. *भारत का संविधान*, अनुसूची द्वितीय की संख्या 48
6. *भारत का संविधान*, सूची प्रथम, संख्या 87
7. *भारत का संविधान*, सूची प्रथम, संख्या 97
8. "उच्चतम न्यायालय का निर्णय ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 870," उद्धृत डी.डी. बसु, *इंट्रोडक्शन टू द कॉंस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, प्रेंटिस हॉल, 2008*, पृ. 292
9. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 280 (1)
10. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 280 (2)
11. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 280 (3) क, ख, ग
12. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 280 (4)
13. *भारत का संविधान*, अनुच्छेद 281

भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक

05 Jul 2019 18 min read

Last Updated: July 2022

"भारत का नियंत्रक और महालेखापरीक्षक (CAG-कैग) संभवतः भारत के संविधान का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी है। वह ऐसा व्यक्ति है जो यह देखता है कि संसद द्वारा अनुमन्य खर्चों की सीमा से अधिक धन खर्च न होने पाए या संसद द्वारा विनियोग अधिनियम में निर्धारित मदों पर ही धन खर्च किया जाए।"

-डॉ. भीम राव अम्बेडकर

- भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक (Comptroller & Auditor General of India-CAG) भारत के संविधान के तहत एक स्वतंत्र प्राधिकरण है।
- यह भारतीय लेखा परीक्षा और लेखा विभाग (Indian Audit & Accounts Department) का प्रमुख और सार्वजनिक क्षेत्र का प्रमुख संरक्षक है।
- इस संस्था के माध्यम से संसद और राज्य विधानसभाओं के लिये सरकार और अन्य सार्वजनिक प्राधिकरणों (सार्वजनिक धन खर्च करने वाले) की जवाबदेही सुनिश्चित की जाती है और यह जानकारी जनसाधारण को दी जाती है।

पृष्ठभूमि

- महालेखाकार का कार्यालय वर्ष 1858 में स्थापित किया गया था, ठीक उसी वर्ष जब अंग्रेज़ों ने ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत का प्रशासनिक नियंत्रण अपने हाथों में लिया था।
- वर्ष 1860 में सर एडवर्ड ड्रमंड को पहले ऑडिटर जनरल के रूप में नियुक्त किया गया। इसके कुछ समय बाद भारत के महालेखापरीक्षक को भारत सरकार का लेखा परीक्षक और महालेखाकार कहा जाने लगा।
- वर्ष 1866 में इस पद का नाम बदलकर नियंत्रक महालेखा परीक्षक कर दिया गया और वर्ष 1884 में इसे भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक के रूप में फिर से नामित किया गया।
- भारत सरकार अधिनियम, 1919 के तहत महालेखापरीक्षक को सरकारी नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया क्योंकि इस पद को वैधानिक दर्जा दिया गया था।
- भारत सरकार अधिनियम, 1935 ने संघीय ढाँचे में प्रांतीय लेखा परीक्षकों के लिये प्रावधान करके महालेखापरीक्षक के पद को और शक्ति दी।
- इस अधिनियम में नियुक्ति और सेवा प्रक्रियाओं का भी उल्लेख था और भारत के महालेखापरीक्षक के कर्त्तव्यों का संक्षिप्त विवरण भी।
- वर्ष 1936 के लेखा और लेखा परीक्षा आदेश ने महालेखापरीक्षक के उत्तरदायित्वों और लेखा परीक्षा कार्यों का प्रावधान किया।

- यह व्यवस्था वर्ष 1947 तक अपरिवर्तित रही। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान के अनुच्छेद 148 में भारत के राष्ट्रपति द्वारा एक नियंत्रक और महालेखापरीक्षक नियुक्त किये जाने का प्रावधान किया गया।
- वर्ष 1958 में CAG के क्षेत्राधिकार में जम्मू और कश्मीर को शामिल किया गया।
- वर्ष 1971 में केंद्र सरकार ने नियंत्रक और महालेखापरीक्षक (कर्त्तव्य, शक्तियाँ और सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 लागू किया।
- अधिनियम ने CAG को केंद्र और राज्य सरकारों के लिये लेखांकन और लेखा परीक्षा दोनों की ज़िम्मेदारी दी।
- वर्ष 1976 में CAG को लेखांकन के कार्यों से मुक्त कर दिया गया।

ब्रिटेन के CAG से तुलना

- भारत का CAG केवल महालेखापरीक्षक की भूमिका निभाता है, नियंत्रक महालेखाकार की नहीं, जबकि ब्रिटेन में महालेखापरीक्षक के साथ-साथ इसमें नियंत्रक महालेखाकार की शक्ति भी निहित होती है।
- भारत में CAG पैसा खर्च होने के बाद खातों का लेखा-जोखा करता है यानी पोस्ट-फैक्टो, जबकि UK में CAG की मंज़ूरी के बिना सरकारी खजाने से कोई पैसा निकाला ही नहीं जा सकता है।

- भारत में CAG संसद का सदस्य नहीं होता, जबकि ब्रिटेन में कैग हाउस ऑफ कॉमंस का सदस्य होता है।

संवैधानिक प्रावधान

- अनुच्छेद 148 CAG की नियुक्ति, शपथ और सेवा की शर्तों से संबंधित है।
- अनुच्छेद 149 भारत के नियंत्रक और महालेखा परीक्षक के कर्त्तव्यों और शक्तियों से संबंधित है।
- अनुच्छेद 150 कहता है कि संघ और राज्यों को खातों का विवरण राष्ट्रपति के अनुसार (CAG की सलाह पर) रखना होगा।
- अनुच्छेद 151 कहता है कि संघ के खातों से संबंधित CAG की रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपी जाएगी, जो संसद के प्रत्येक सदन के पटल पर रखी जाएगी।
    - किसी राज्य के लेखाओं के संबंध में भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की रिपोर्ट राज्य के राज्यपाल को प्रस्तुत की जाएगी, जो उन्हें राज्य के विधानमंडल के समक्ष रखेगा।
- अनुच्छेद 279- 'शुद्ध आय' की गणना CAG द्वारा प्रमाणित की जाती है, जिसका प्रमाणपत्र अंतिम माना जाता है।

- तीसरी अनुसूची- भारत के संविधान की तीसरी अनुसूची की धारा IV भारत के CAG और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों द्वारा पदभार ग्रहण के समय ली जाने वाली शपथ का प्रावधान करती है।
- **छठी अनुसूची-** इस अनुसूची के अनुसार, ज़िला परिषद या क्षेत्रीय परिषद के खातों को राष्ट्रपति की अनुमति के साथ CAG द्वारा अनुमोदित प्रारूप के अनुसार रखा जाना चाहिये।
- इन निकायों के खाते का लेखा-जोखा इस तरह से करना होगा जिस प्रकार CAG उचित समझता है और ऐसे खातों से संबंधित रिपोर्ट राज्यपाल को प्रस्तुत की जाएगी, जो विधानमंडल के समक्ष रखी जाती है।

कैग की स्वायत्तता

- CAG की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिये संविधान में कई प्रावधान किये गए हैं।
- CAG राष्ट्रपति की सील और वारंट द्वारा नियुक्त किया जाता है और इसका कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु तक होता है। (दोनों में से जो भी पहले हो)
- CAG को राष्ट्रपति द्वारा केवल संविधान में दर्ज प्रक्रिया के अनुसार हटाया जा सकता है जो कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने के तरीके के समान है।
- एक बार CAG के पद से सेवानिवृत्त होने/इस्तीफा देने के बाद वह भारत सरकार या किसी भी राज्य सरकार के अधीन किसी भी कार्यालय का पदभार नहीं ले सकता।

- CAG भारत में सरकार की लोकतांत्रिक व्यवस्था की एक कड़ी है। अन्य कड़ियों में सर्वोच्च न्यायालय, चुनाव आयोग और संघ लोक सेवा आयोग शामिल हैं।
    - कोई भी मंत्री संसद में CAG का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।
- CAG का वेतन और अन्य सेवा शर्तें नियुक्ति के बाद भिन्न (कम) नहीं की जा सकतीं।
- उसकी प्रशासनिक शक्तियाँ और भारतीय लेखा परीक्षा और लेखा विभाग में सेवारत अधिकारियों की सेवा शर्तें राष्ट्रपति द्वारा उससे परामर्श के बाद ही निर्धारित की जाती हैं।
- CAG के कार्यालय का प्रशासनिक व्यय, जिसमें सभी वेतन, भत्ते और पेंशन शामिल हैं, भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं जिन पर संसद में मतदान नहीं हो सकता।

CAG के कार्य और शक्तियाँ

- CAG को विभिन्न स्रोतों से ऑडिट करने के अधिकार प्राप्त हैं, जैसे-
    - संविधान का अनुच्छेद 148 से 151
    - नियंत्रक और महालेखापरीक्षक (कर्त्तव्य, शक्तियाँ और सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971
    - महत्त्वपूर्ण निर्णय
    - भारत सरकार के निर्देश
    - लेखा और लेखा-परीक्षा विनियम, 2017

- लेखा और लेखा-परीक्षा विनियम, 2017

- CAG भारत की संचित निधि और प्रत्येक राज्य, केंद्रशासित प्रदेश जिसकी विधानसभा होती है, की संचित निधि से संबंधित खातों के सभी प्रकार के खर्चों का परीक्षण करता है।
- भारत की आकस्मिक निधि और भारत के सार्वजनिक खाते के साथ-साथ प्रत्येक राज्य की आकस्मिक निधि और सार्वजनिक खाते से होने वाले सभी खर्चों का परीक्षण करता है।
- केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के किसी भी विभाग के सभी ट्रेडिंग, विनिर्माण, लाभ- हानि खातों, बैलेंस शीट और अन्य अतिरिक्त खातों का ऑडिट करता है।
- संबंधित कानूनों द्वारा आवश्यक होने पर वह केंद्र या राज्यों के राजस्व से वित्तपोषित होने वाले सभी निकायों, प्राधिकरणों, सरकारी कंपनियों, निगमों और निकायों की आय-व्यय का परीक्षण करता है।
- राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा अनुशंसित किये जाने पर किसी अन्य प्राधिकरण के खातों का ऑडिट करता है, जैसे- कोई स्थानीय निकाय।
- केंद्र और राज्यों के खाते जिस प्रारूप में रखे जाएंगे, उसके संबंध में राष्ट्रपति को सलाह देता है।
- केंद्र के खातों से संबंधित अपनी ऑडिट रिपोर्ट को राष्ट्रपति को सौंपता है, जो संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखी जाती है।

CAG और लोक लेखा समिति

(Public Accounts Committee- PAC)

- लोक लेखा समिति भारत सरकार अधिनियम, 1919 के तह गठित एक स्थायी संसदीय समिति है।
- CAG की ऑडिट रिपोर्ट केंद्र और राज्य में लोक लेखा समिति व सौंपी जाती है।
- विनियोग खातों, वित्त खातों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों प ऑडिट रिपोर्ट की जाँच लोक लेखा समिति द्वारा की जाती है।
- केंद्रीय स्तर पर इन रिपोर्टों को CAG द्वारा राष्ट्रपति को प्रस्तुत कि जाता है, जो संसद में दोनों सदनों के पटल पर रखी जाती हैं।
- CAG सबसे ज़रूरी मामलों की एक सूची तैयार करके लोक लेख समिति को सौंपता है।
- CAG कभी-कभी राजनेताओं और सरकारी अधिकारियों विचारों की व्याख्या और अनुवाद भी करता है।
- CAG यह देखता है कि उसके द्वारा प्रस्तावित सुधारात्मक कार्रवा की गई है या नहीं। यदि नहीं तो वह मामले को लोक लेखा समि के पास भेज देता है जो मामले पर आवश्यक कार्रवाई करती है।

चुनौतियाँ तथा अवसर

- वर्तमान समय में सरकारी ऑडिट करना जटिल होता जा रहा क्योंकि भ्रष्टाचार और प्रशासन में खामियों का पता लगाना आसा नहीं है।
- केंद्र और राज्य सरकारों पर कड़ी नजर रखने के साथ ही CAG अ कई सार्वजनिक-निजी सहभागी परियोजनाओं (PPP) का ऑडि भी करता है।
- CAG की नियुक्ति के लिये कोई मानदंड या प्रक्रिया संविधान र कानून में निर्धारित नहीं की गई है।
- कार्यपालिका को यह शक्ति दी गई है कि वह अपनी पसंद के व्यक्ति को CAG के रूप में नियुक्त कर सके। यह विश्व में प्रचलित तरीव के साथ मेल नहीं खाता।
- CAG को किसी भी सरकारी कार्यालय का निरीक्षण करने अं किसी भी खाते को मांगने का अधिकार है, लेकिन व्यावहारिक तं पर ऐसा नहीं हो पाता।
- इसके अलावा ऑडिट में बाधा डालने के उद्देश्य से महत्त्वपू दस्तावेज़ों की आपूर्ति ऑडिट प्रक्रिया के अंत में की जाती है।
- RTI अधिनियम 2005 के तहत नागरिकों के एक महीने के भीत जानकारी प्राप्त करने के अधिकार की तरह ऑडिटरों को भी सा दिनों के भीतर प्राथमिकता के आधार पर रिकॉर्ड उपलब्ध कि जाने चाहिये। ऐसा नहीं हो पाने की स्थिति में संबंधित विभागों प्रमुखों को इसकी वज़हों को स्पष्ट करना चाहिये।

- RTI अधिनियम 2005 के तहत नागरिकों के एक महीने के भीत जानकारी प्राप्त करने के अधिकार की तरह ऑडिटरों को भी सा दिनों के भीतर प्राथमिकता के आधार पर रिकॉर्ड उपलब्ध कि जाने चाहिये। ऐसा नहीं हो पाने की स्थिति में संबंधित विभागों प्रमुखों को इसकी वज़हों को स्पष्ट करना चाहिये।

- वर्ष 2015 में संसद और राज्य/केंद्रशासित प्रदेशों के विधानमंडल ने लोक लेखा समिति के अखिल भारतीय सम्मेलन में CAG व पूर्ण स्वायत्तता और लोक लेखा समिति का सदस्य बनाए जाने प चर्चा की, जैसा कि UK और ऑस्ट्रेलिया में होता है।

- हालाँकि भारतीय संविधान CAG को छह साल का कार्यका प्रदान करता है, लेकिन 65 साल उम्र की शर्त इसके वास्तवि कार्यकाल की अवधि को कम कर सकती है। कार्यकाल कम होने नेतृत्व, निरंतरता और विशेषज्ञता की कमी के कारण संस्था स्वतंत्र और उचित कामकाज में बाधा उत्पन्न होती है।

- अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर UK के CAG और अमेरिका के नियंत्र महाप्रबंधक का कार्यकाल क्रमशः 10 और 15 वर्ष होता है।

- संघ और राज्यों के खातों के ऑडिट का काम वास्तव में India Audit and Accounts Department (IA&AD) अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। हालाँकि भार में IA&AD के कार्य को वैधानिक मान्यता नहीं दी गई है, जैसा UK के राष्ट्रीय लेखा परीक्षा कार्यालय (National Audit Office में होता है।

- IT एक्ट की तर्ज पर IA&AD को सांविधिक निकाय के रूप मान्यता देने और शक्तियाँ प्रदान करने से ऑडिट की गुणवत्ता सुधार होगा तथा IA&AD के अधिकारियों और कर्मचारियों द्वा किये गए कार्यों की विश्वसनीयता बढ़ेगी।

पूर्व CAG विनोद राय द्वारा सुझाए गए सुधार

- CAG के दायरे में सभी निजी-सार्वजनिक सहभागी (PPP), पंचायती राज संस्थान और सरकार द्वारा वित्तपोषित संस्थानों को लाना चाहिये।
- 1971 के CAG एक्ट में संशोधन किया जाना चाहिये ताकि शासन में बदलाव से ताल-मेल हो सके।
- नया CAG चुनने के लिये मुख्य सतर्कता आयुक्त (CVC) के चयन की तरह एक कॉलेजियम जैसा तंत्र होना चाहिये।

तौर-तरीकों में बदलाव की ज़रूरत

- हालिया समय में कुछ ऑडिट के दौरान नुकसान के बढ़े हु अनुमानों या बाहरी आँकड़ों के कारण CAG की आलोचना हुई है इस तरह के आरोपों से बचने के लिये CAG को कठोर मानकों व पालन करना चाहिये ताकि ऑडिट की अखंडता बाहरी विचारों प्रभावित न हो।

- सरकारी धन और सार्वजनिक वस्तुओं का बड़े पैमाने पर दुरुपयो हो रहा है। इसे रोकने के लिये CAG को अपने ऑडिट तंत्र बदलाव करने चाहिये।

- CAG को सतत विकास लक्ष्यों का ऑडिट करने और GST कार्यान्वयन जैसे मुद्दों की जाँच के लिये तैयार किया जाना चाहिये।

- बिग डेटा क्रांति के मद्देनज़र CAG ने वर्ष 2016 में बिग डे मैनेजमेंट पॉलिसी के साथ काम किया तथा दिल्ली में डेटा मैनेजमे एंड एनालिटिक्स के लिये एक केंद्र भी स्थापित किया।

- CAG ने संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय का सफलतापूर्वक ऑडिट किय जिसमें विविध जटिल कार्य शामिल थे। यह भारत के CAG व विश्वसनीयता को दर्शाता है।

भारत के वर्तमान नियंत्रक और महालेखापरीक्षक गिरीश चंद्र मु हैं।

नीति आयोग

drishtiias.com/hindi/printpdf/niti-aayog-30

स्वाधीनता के बाद हमारे देश ने तत्कालीन सोवियत संघ के समाजवादी शासन की संरचना को अपनाया, जिसमें योजनाएँ बनाकर काम किया जाता था। पंचवर्षीय तथा एकवर्षीय योजनाएँ काफी लंबे समय तक देश में चलती रहीं। योजना आयोग ने नियोजन इकाई के रूप दशकों तक योजनाएँ बनाने के काम को अंजाम दिया। लेकिन केंद्र में सत्ता परिवर्तन होने के बाद 1 जनवरी, 2015 को योजना आयोग के स्थान पर केंद्रीय मंत्रिमंडल के एक संकल्प पर **नीति आयोग** का गठन किया गया। इसमें सहकारी संघवाद की भावना को केंद्र में रखते हुए अधिकतम शासन, न्यूनतम सरकार के दृष्टिकोण की परिकल्पना को स्थान दिया गया।

अप्रासंगिक हो गया था योजना आयोग

- 65 वर्ष पुराना योजना आयोग कमांड अर्थव्यवस्था संरचना में तो प्रासंगिक था, लेकिन बीते कुछ वर्षों में यह प्रभावी नहीं रह गया था।
- भारत विविधताओं वाला देश है और इसके राज्य आर्थिक विकास के विभिन्न चरणों में हैं, जिनकी अपनी भिन्न-भिन्न ताकतें और कमज़ोरियाँ हैं।
- आर्थिक नियोजन के लिये सभी पर एक प्रारूप लागू हो, यह धारणा गलत है। यह आज की वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत को प्रतिस्पर्द्धी के तौर पर स्थापित नहीं कर सकता।

नीति आयोग की प्रशासनिक संरचना

अध्यक्ष: प्रधानमंत्री

उपाध्यक्ष: प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त

संचालन परिषद: सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और केंद्रशासित प्रदेशों के उपराज्यपाल।

क्षेत्रीय परिषद: विशिष्ट क्षेत्रीय मुद्दों को संबोधित करने के लिये प्रधानमंत्री या उसके द्वारा नामित व्यक्ति मुख्यमंत्रियों और उपराज्यपालों की बैठक की अध्यक्षता करता है।

तदर्थ सदस्यता: अग्रणी अनुसंधान संस्थानों से बारी-बारी से 2 पदेन सदस्य।

पदेन सदस्यता: प्रधानमंत्री द्वारा नामित केंद्रीय मंत्रिपरिषद के अधिकतम चार सदस्य।

मुख्य कार्यकारी अधिकारी (CEO): भारत सरकार का सचिव जिसे प्रधानमंत्री द्वारा एक निश्चित कार्यकाल के लिए नियुक्त किया जाता है।

विशेष आमंत्रित प्रधानमंत्री द्वारा नामित विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ।

नीति आयोग के दो प्रमुख हब

- **टीम इंडिया हब**- राज्यों और केंद्र के बीच इंटरफेस का काम करता है।
- **ज्ञान और नवोन्मेष (Knowledge & Innovation) हब**-नीति आयोग के थिंक-टैंक की भाँति कार्य करता है।

नीति आयोग के दो प्रमुख हब

- **टीम इंडिया हब**- राज्यों और केंद्र के बीच इंटरफेस का काम करता है।
- **ज्ञान और नवोन्मेष (Knowledge & Innovation) हब**- नीति आयोग के थिंक-टैंक की भाँति कार्य करता है।
- नीति आयोग ने तीन दस्तावेज़ जारी किये हैं, जिसमें 3 वर्षीय कार्य एजेंडा, 7 वर्षीय मध्यम अवधि की रणनीति का दस्तावेज़ और 15 वर्षीय लक्षय दस्तावेज़ शामिल हैं।

नीति आयोग के उद्देश्य

- यह मानते हुए कि मज़बूत राज्य ही एक मज़बूत राष्ट्र बनाते हैं, संघीय सहभागिता की भावना को बढ़ाने के लिये राज्यों को निरंतर संरचित समर्थन तंत्र के माध्यम से सहयोग प्रदान करना।
- ग्रामीण स्तर पर विश्वसनीय योजनाएँ बनाने के लिये तंत्र विकसित करना और सरकार के उच्च स्तरों तक इसे उत्तरोत्तर विकसित करना।
- राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों में आर्थिक रणनीति और नीतियाँ शामिल की गई हैं।
- समाज के उन वर्गों पर विशेष ध्यान देना जो आर्थिक प्रगति से पर्याप्त रूप से लाभान्वित नहीं हैं।
- प्रमुख हितधारकों, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय थिंक टैंक जैसे शैक्षिक और नीति अनुसंधान संस्थानों के बीच भागीदारी को प्रोत्साहित करना।
- राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, चिकित्सकों तथा अन्य भागीदारों के सहयोग से ज्ञान, नवाचार और उद्यमशीलता की सहायता प्रणाली बनाना।
- विकास एजेंडा के कार्यान्वयन में तेज़ी लाने के लिये अंतर-क्षेत्रीय और अंतर-विभागीय मुद्दों के समाधान हेतु एक मंच प्रदान करना।
- राज्यों को कला संसाधन केंद्र के रूप में स्थापित करने, शासन पर शोध का केंद्र बनाने एवं सतत और न्यायसंगत विकास में सर्वोत्तम तरीके अपनाने तथा विभिन्न हित धारकों तक उनको पहुँचाना।

नीति आयोग और योजना आयोग में प्रमुख अंतर

नीति आयोग	योजना आयोग
यह एक सलाहकार थिंक टैंक के रूप में कार्य करता है।	इसने एक संवैधानिक निकाय के रूप में कार्य किया था, जबकि इसे ऐसा दर्जा नहीं मिला था।
यह सदस्यों की व्यापक विशेषज्ञता पर बल देता है।	यह सीमित विशेषज्ञता पर निर्भर था।
यह सहकारी संघवाद की भावना पर कार्य करता है क्योंकि यह राज्यों की समान भागीदारी सुनिश्चित करता है।	इसकी वार्षिक योजना बैठकों में राज्यों की भागीदारी बहुत कम रहती थी।

प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त सचिवों को CEO के रूप में जाना जाता है।	सचिवों को सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से नियुक्त किया जाता था।
यह Bottom-Up Approach पर कार्य करता है।	यह Top-Down Approach पर कार्य करता था।
इसे नीतियाँ लागू करने का अधिकार नहीं है।	यह राज्यों के लिये नीतियाँ बनाता था और स्वीकृत परियोजनाओं के लिये धन आवंटित करता

केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) : सीवीसी की शक्तियां और कार्य, संगठनात्मक संरचना और क्षेत्राधिकार पढ़ें!

Last Updated on Dec 04, 2023

Central Vigilance Commission अंग्रेजी में पढ़ें

Download As PDF

IMPORTANT LINKS

केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) (Central Vigilance Commission CVC in Hindi) की स्थापना 1964 में **संथानम समिति** की सिफारिशों के तहत हुई थी, इसे 2003 सीवीसी अधिनियम में वैधानिक अधिकार प्राप्त हुआ था। **केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) (Central Vigilance Commission CVC in Hindi)** की परिकल्पना शासन में भ्रष्टाचार को रोकने और अपने दुर्भावनापूर्ण कार्यों के लिए सिविल सेवकों को जिम्मेदार ठहराने के लिए की गई थी। समिति की अध्यक्षता श्री के. संथानम ने की। **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) (Central Vigilance Commission)** किसी भी कार्यकारी प्राधिकरण के नियंत्रण से मुक्त

दुर्भावनापूर्ण कार्यों के लिए सिविल सेवकों को जिम्मेदार ठहराने के लिए की गई थी। समिति की अध्यक्षता श्री के. संथानम ने की थी। **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) (**Central Vigilance Commission**)** किसी भी कार्यकारी प्राधिकरण के नियंत्रण से मुक्त है, केंद्र सरकार के तहत सभी सतर्कता गतिविधियों की निगरानी करता है और केंद्र सरकार के संगठनों में विभिन्न अधिकारियों को उनके सतर्क कार्य की योजना बनाने, क्रियान्वित करने, समीक्षा करने और सुधार करने की सलाह देता है।

केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) (Central Vigilance Commission CVC in Hindi) **यूपीएससी परीक्षा** के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है और यह सामान्य अध्ययन पेपर 2 के अंतर्गत आता है। इस लेख में, हम **केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) (Central Vigilance Commission CVC in Hindi)**, **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) (Central Vigilance Commission in Hindi)** की संरचना, उद्देश्यों, मिशन, रणनीतियों और प्रमुख चिंताओं पर चर्चा करेंगे।

केंद्रीय सतर्कता आयोग या सीवीसी के बारे में | About Central Vigilance Commission (CVC)

- सीवीसी किसी भी कार्यकारी प्राधिकरण के नियंत्रण से मुक्त है
- यह केंद्र सरकार के तहत सभी सतर्कता गतिविधियों की निगरानी की जिम्मेदारी से संपन्न है।
- यह केंद्र सरकार के संगठनों में विभिन्न अधिकारियों को उनके सतर्क कार्य की योजना बनाने, क्रियान्वित करने, समीक्षा करने और सुधार करने की सलाह भी देता है।
- राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश की घोषणा के बाद 25 अगस्त, 1998 से **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) (Central Vigilance Commission in Hindi)** (CVC) को "**वैधानिक स्थिति**" के साथ एक बहु सदस्यीय आयोग बना दिया गया था।
- **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) (Central Vigilance Commission in Hindi)** अधिनियम 2003 संसद और राष्ट्रपति से सीवीसी बिल की स्वीकृति के बाद लागू हुआ।
- 18वें **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) (Central Vigilance Commission in Hindi)** का गठन भारत के राष्ट्रपति द्वारा जून 2021 में सुरेश एन. पटेल की अध्यक्षता में किया गया था।

केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) एक नजर में | Central Vigilance Commission at Glance

स्थापना	1964
सदस्य	मुख्य सतर्कता आयुक्त, 2 सतर्कता आयुक्त
नियुक्ति	भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है।
विजन	भ्रष्टाचार से लड़ना और लोक प्रशासन में सत्यनिष्ठा सुनिश्चित करना।
क्षेत्राधिकार	इसका अधिकार क्षेत्र विभिन्न लोक प्रशासन विभागों में सेवारत सभी सदस्यों पर है।
कार्यकाल	4 वर्ष या 65 वर्ष की आयु तक (जो भी पहले हो)।
स्थिति	स्वतंत्र वैधानिक निकाय
निष्कासन	राष्ट्रपति द्वारा कई आधारों पर।

मिशन | Mission

लोक प्रशासन में सत्यनिष्ठा को बढ़ावा देने के मिशन के साथ **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC)** की स्थापना की गई थी:

- भ्रष्टाचार विरोधी कानूनों और विनियमों को तत्काल लागू करके भ्रष्टाचार के खिलाफ एक विश्वसनीय निवारक बनाना।
- भ्रष्टाचार के दायरे को कम करने के लिए प्रभावी निवारक उपाय करना।
- नैतिक मूल्यों को विकसित करने और भ्रष्टाचार के प्रति समाज की सहनशीलता को कम करने के लिए जन जागरूकता बढ़ाना।

केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) की संरचना | Composition of Central Vigilance Commission

- केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) एक बहु-सदस्यीय निकाय जिसमें एक केंद्रीय सतर्कता आयुक्त (अध्यक्ष) हो और दो से अधिक सतर्कता आयुक्त (1+2) न हों।
- 4 वर्ष की अवधि के लिए या 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक, जो भी पहले हो, तक पद पर बने रहें।
- पुनर्नियुक्ति के पात्र नहीं हैं।
- मुख्य सतर्कता आयुक्त के वेतन, भत्ते और अन्य सेवा शर्तें यूपीएससी के अध्यक्ष के समान हैं और सतर्कता आयुक्त के समान हैं जो यूपीएससी के अध्यक्ष के समान हैं।

हंटर एजुकेशन कमीशन के बारे में जानने के लिए यहां क्लिक करें!

सीवीसी और सतर्कता आयुक्तों की नियुक्ति | Appointment of CVC and Vigilance Commissioners

- राष्ट्रपति **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC)** और सतर्कता आयुक्तों को अपने हस्ताक्षर और मुहर के तहत वारंट द्वारा नियुक्त करेगा:

- राष्ट्रपति **केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC)** और सतर्कता आयुक्तों को अपने हस्ताक्षर और मुहर के तहत वारंट द्वारा नियुक्त करेगा:
- जब ऐसे किसी नेता को मान्यता नहीं दी गई है, तो "लोक सभा में विपक्ष के नेता" में इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए लोक सभा में सरकार के विरोध में सबसे बड़े समूह का नेता शामिल होता है।
- बशर्ते कि इस उप-धारा के तहत प्रत्येक नियुक्ति एक समिति की सिफारिश प्राप्त करने के बाद की जाएगी, जिसमें शामिल हैं-
    - प्रधानमंत्री – अध्यक्ष;
    - गृह मंत्री – सदस्य;
    - लोक सभा में विपक्ष के नेता – सदस्य।
- **केंद्रीय सतर्कता आयोग (Central Vigilance Commission in Hindi)** आयुक्त (CVC) या सतर्कता आयुक्त की नियुक्ति को केवल इसलिए अमान्य नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि समिति में कोई रिक्ति है।

सूरत विभाजन (1907) **के बारे में पूरी जानकारी पायें!**

हटाने की प्रक्रिया | Process Of Removal

राष्ट्रपति निम्नलिखित परिस्थितियों में केंद्रीय सतर्कता आयुक्त या किसी भी सतर्कता आयुक्त को कार्यालय से हटा सकते हैं:

- यदि वह दिवालिया या पागल घोषित हो जाता है।
- यदि केंद्र सरकार उसे नैतिक अधमता वाले अपराध के लिए जिम्मेदार ठहराती है/ या उसे ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया

- यदि वह दिवालिया या पागल घोषित हो जाता है।
- यदि केंद्र सरकार उसे नैतिक अधमता वाले अपराध के लिए जिम्मेदार ठहराती है/ या उसे ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया जाता है।
- यदि वह कोई अन्य लाभ का पद धारण करता है।
- यदि उसे भारत के राष्ट्रपति द्वारा मन या शरीर की दुर्बलता के कारण अयोग्य घोषित किया जाता है।
- राष्ट्रपति केंद्रीय सतर्कता आयुक्त या किसी सतर्कता आयुक्त को साबित कदाचार या अक्षमता के आधार पर हटा भी सकते हैं।
- ऐसे मामलों में, राष्ट्रपति को मामले को जांच के लिए सर्वोच्च न्यायालय के पास भेजना पड़ता है।
- जांच के बाद, अगर सुप्रीम कोर्ट, हटाने के कारण को बरकरार रखता है और सलाह देता है, तो राष्ट्रपति उसे हटा सकता है।

केंद्रीय सतर्कता आयोग या CVC (Central Vigilance Commission in Hindi) में शामिल हैं:

- सचिवालय-
    - सचिव।
    - 4 अतिरिक्त सचिव।
    - 30 निदेशक/उप सचिव।
    - 4 अवर सचिव
    - कार्यालय के कर्मचारी।
- मुख्य तकनीकी परीक्षक विंग (CTE)-
    - 2 मुख्य अभियंता के पद के अभियंता (मुख्य तकनीकी परीक्षक के रूप में नामित)।
    - इंजीनियरिंग स्टाफ का समर्थन।
- विभागीय जांच आयुक्त (CDI)-
    - विभागीय जांच के लिए 14 आयुक्त (जिनमें से 11 निदेशक के पद के हैं और 03 उप सचिव के पद के हैं)।

एनजीओ (NGOs) और एसएचजी (SHGs) में अंतर **यहाँ जानें!**

सीवीसी की शक्तियां और कार्य | Powers and functions of CVC in Hindi

- सीबीआई के कामकाज की निगरानी करना और उसे निर्देश देना।
- अधिकारियों के खिलाफ प्राप्त किसी भी शिकायत पर ज करना और जांच की प्रगति की समीक्षा करना।
- केंद्र सरकार के विभिन्न विभागों और संगठनों में सतर्कता

- सीबीआई के कामकाज की निगरानी करना और उसे निर्देश देना।
- अधिकारियों के खिलाफ प्राप्त किसी भी शिकायत पर जांच करना और जांच की प्रगति की समीक्षा करना।
- केंद्र सरकार के विभिन्न विभागों और संगठनों में सतर्कता प्रशासन का पर्यवेक्षण करना।
- **केंद्रीय सतर्कता आयोग या CVC (Central Vigilance Commission in Hindi)** जांच करते समय एक दीवानी अदालत की तरह शक्तियां हैं।
- प्रवर्तन निदेशक की नियुक्ति के लिए केंद्र सरकार की सिफारिश करता है।
- सीवीसी के पास प्रवर्तन निदेशक के परामर्श के बाद सीबीआई के उप निदेशक और अधिकारियों की नियुक्ति की सिफारिश करने की शक्ति भी है।
- विभागीय जांच आयुक्त (सीडीआई) लोक सेवकों के खिलाफ शुरू की गई विभागीय कार्यवाही में मौखिक जांच करने के लिए जांच अधिकारी के रूप में कार्य करते हैं।
- तकनीकी विंग के कार्यों में शामिल हैं: सरकारी संगठनों के निर्माण कार्यों (सतर्कता की दृष्टि से) की तकनीकी ऑडिट, निर्माण कार्यों से संबंधित शिकायतों के विशिष्ट मामलों की जांच करना और तकनीकी मामलों से संबंधित सीबीआई को सहायता और सलाह देना।

केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) का अधिकार क्षेत्र | Jurisdiction of Central Vigilance Commission (CVC)

- सामान्य बीमा कंपनियों में प्रबंधक और उससे ऊपर
- जीवन बीमा निगमों में वरिष्ठ मंडल प्रबंधक और उससे ऊपर
- संघ के मामलों के संबंध में सेवारत अखिल भारतीय सेवा के सदस्य और केंद्र सरकार के समूह ए अधिकारी
- सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में स्केल V और उससे ऊपर के रैंक के अधिकारी
- 8700/- प्रतिमाह वेतन पाने वाले अधिकारी और ऊपर केंद्र सरकार पर डी.ए. पैटर्न, अधिसूचना की तारीख के अनुसार और जैसा कि समय-समय पर सोसायटी और अन्य स्थानीय प्राधिकरणों में संशोधित किया जा सकता है
- भारतीय रिजर्व बैंक, नाबार्ड और सिडबी में ग्रेड डी और उससे ऊपर के अधिकारी
- बोर्ड के मुख्य कार्यपालक और कार्यपालक और अनुसूची 'ए' और 'बी' सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में ई-8 और उससे ऊपर के अन्य अधिकारी
- बोर्ड में मुख्य कार्यपालक और कार्यपालक और अनुसूची 'सी' और 'डी' सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में ई-7 और उससे ऊपर के अन्य अधिकारी

लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013 के तहत क्षेत्राधिकार | Jurisdiction under Lokpal and Lokayukta Act, 2013

- लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013, 2013 में संसद द्वारा पारित किया गया था। यह क़ानून 2003 के सीवीसी अधिनियम में संशोधन करता है, जिससे आयोग को लोकपाल द्वारा लाई गई शिकायतों की प्रारंभिक जांच और अतिरिक्त जांच करने की अनुमति मिलती है।
- लोकपाल और लोकायुक्तों और अन्य संबंधित कानून (संशोधन) विधेयक, 2014 की जांच के दौरान, आयोग ने कार्मिक, लोक शिकायत, कानून और न्याय पर विभाग-संबंधित संसदीय स्थायी समिति के बीच अधिकार क्षेत्र के ओवरलैप के मुद्दे पर अपने सुझावों को संप्रेषित किया। सीवीसी अधिनियम और लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम।

यह भी पढ़ें : महिलाओं के खिलाफ सभी प्रकार के भेदभाव के उन्मूलन पर कन्वेंशन CEDAW

केंद्रीय सतर्कता आयोग का सतर्कता जागरूकता सप्ताह | Vigilance Awareness Week of Central Vigilance Commission

- सतर्कता जागरूकता सप्ताह हर साल सरदार वल्लभभाई पटेल

केंद्रीय सतर्कता आयोग का सतर्कता जागरूकता सप्ताह | Vigilance Awareness Week of Central Vigilance Commission

- सतर्कता जागरूकता सप्ताह हर साल सरदार वल्लभभाई पटेल के जन्मदिन के सप्ताह के दौरान मनाया जाता है।
- सरदार पटेल का जन्म 31 अक्टूबर को हुआ था और वे अपनी ईमानदारी और सत्यनिष्ठा के लिए जाने जाते हैं।
- इस साल 26 अक्टूबर से 1 नवंबर तक सतर्कता सप्ताह मनाया जा रहा है।
- सप्ताह की घटनाओं और गतिविधियों का उद्देश्य भ्रष्टाचार की समस्याओं के बारे में जागरूकता बढ़ाना और व्यक्तिगत और संरचनात्मक स्तर पर इसका मुकाबला करने के लिए समाधानों को बढ़ावा देना है।

स्टार प्रचारक **– चुनाव में व्यय और भारत के राजनीतिक दलों में स्टार प्रचारकों से संबंधित जानकारी यहां पाएं!**

उद्देश्य:

- सभी हितधारकों को भ्रष्टाचार के खिलाफ रोकथाम और लड़ाई में सहयोग करने के लिए प्रोत्साहित करना,
- भ्रष्टाचार के अस्तित्व, कारणों और गंभीरता के साथ-साथ इससे होने वाले खतरे के बारे में जन जागरूकता को बढ़ावा देना।

उद्देश्य:

- सभी हितधारकों को भ्रष्टाचार के खिलाफ रोकथाम और लड़ाई में सहयोग करने के लिए प्रोत्साहित करना,
- भ्रष्टाचार के अस्तित्व, कारणों और गंभीरता के साथ-साथ इससे होने वाले खतरे के बारे में जन जागरूकता को बढ़ावा देना।
- **केंद्रीय सतर्कता आयोग (Central Vigilance Commission in Hindi)** इसके प्रभारी हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सत्र के बारे में यहां जाने!

टेस्टबुक आपकी सभी परीक्षा की तैयारी के लिए एक ही स्थान पर समाधान है। चाहे यूपीएससी, एसएससी, बैंकिंग, रेलवे या किसी अन्य प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी हो। आप विभिन्न विषयों के लिए अध्ययन सामग्री तक पहुंच सकते हैं और यहां तक कि हमारे दैनिक क्विज़, मॉक टेस्ट, प्रश्न बैंकों आदि के माध्यम से अपनी प्रगति की जांच कर सकते हैं। समसामयिक मामलों और कक्षा सत्रों के साथ अपडेट रहें।

Daily Notes — Lokpal and Lokayukta in India

भारत में लोकपाल तथा लोकायुक्त

आधुनिक लोकतांत्रिक देशों में इस बात की अधिकाधिक महसूस की जा रही है कि राज्य में एक ऐसा स्वतंत्र और निष्पक्ष अभिकरण होना चाहिए जो प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार के मामलों पर निर्भिकतापूर्वक विचार कर सके तथा इस संबंध में जनता की शिकायतों की समुचित छान-बीन कर उन्हें दूर करने की दिशा में प्रभावशाली भूमिका निभा सके और इस प्रकार जनता में प्रशासन के प्रति निरंतर गिरते जा रहे विश्वास को पुन: ऊपर उठा सके। ओम्बुड्समैन एक ऐसा ही स्वतंत्र और सर्वोच्च अधिकारी होता है जो जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए उसकी शिकायतों का निराकरण करने हेतु उचित कार्यवाही करता है। स्वीडन का ओम्बुड्समैन ऐसा ही संस्था है।

क्या है लोकपाल और लोकायुक्त ?

- लोकपाल तथा लोकायुक्त अधिनियम, 2013 ने संघ (केंद्र) के लिए लोकपाल और राज्यों के लिए लोकायुक्त संस्था की व्यवस्था की।
- ये संस्थाएँ बिना किसी संवैधानिक दर्जे वाले वैधानिक निकाय हैं।
- ये Ombudsman का कार्य करते हैं और कुछ निश्चित श्रेणी के सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करते हैं।

ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता क्यों है ?

- खराब प्रशासन दीमक की तरह है जो धीरे-धीरे किसी राष्ट्र की नींव को खोखला करता है तथा प्रशासन को अपने कार्य पूर्ण करने में बाधा डालता है। भ्रष्टाचार इस समस्या की जड़ है।
- अधिकतर भ्रष्टाचार निरोधी संस्थाएँ पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हैं,

Scanned with CamScanner

Daily Notes

यहाँ तक कि सर्वोच्च न्यायालय ने भी CBI को 'पिंजरे का

Edit Annotate Fill & Sign Convert All

ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता क्यों है?
- खराब प्रशासन दीमक की तरह है जो धीरे-धीरे किसी राष्ट्र की नींव को खोखला करता है तथा प्रशासन को अपने कार्य पूर्ण करने में बाधा डालता है। भ्रष्टाचार इस समस्या की जड़ है।
- अधिकतर भ्रष्टाचार निरोधी संस्थाएँ पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हैं,

Scanned with CamScanner

यहाँ तक कि सर्वोच्च न्यायालय ने भी CBI को 'पिंजरे का तोता' और 'अपने मालिक की आवाज' बताया है।
- इनमें से कई एजेंसियों में नाममात्र शक्तियों वाले केवल परामर्शी निकाय हैं और उनकी सलाह का शायद ही अनुसरण किया जाता है।
- इसके अलावा आंतरिक पारदर्शिता और जवाबदेही की भी समस्या है, क्योंकि इन एजेंसियों पर नजर रखने के लिए अलग से कोई प्रभावी व्यवस्था नहीं हैं।
- इस संदर्भ में, एक स्वतंत्र लोकपाल संस्था भारतीय राजनीति के इतिहास में मील का पत्थर कहा जा सकता है, जिसने कभी समाप्त न होने वाले भ्रष्टाचार के खतरे का एक समाधान प्रस्तुत किया है।

पृष्ठभूमि
- लोकपाल यानी ओम्बुड्समैन संस्था की आधिकारिक शुरुआत वर्ष 1809 में स्वीडन में हुई।
- 20 वीं शताब्दी में एक संस्था के रूप में ओम्बुड्समैन का विकास हुआ और यह द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तेजी से आगे बढ़ा।
- 1962 में न्यूजीलैंड और नॉर्वे ने यह प्रणाली अपनाई और ओम्बुड्समैन के विचार का प्रसार करने में यह बेहद अहम सिद्ध हुआ।
- वर्ष 1967 में एक वर्ष 961 के व्हाइट रिपोर्ट (Whyatt Report) की सिफारिश पर ग्रेट ब्रिटेन ने ओम्बुड्समैन संस्था को अपनाया तथा लोकतांत्रिक विश्व में इसे अपनाने वाला पहला बड़ा देश बन गया।
- गुयाना प्रथम विकासशील देश था, जिसने वर्ष 1966 में ओम्बुड्समैन का विचार अपनाया। इसके बाद मॉरीशस, सिंगापुर, मलेशिया के साथ भारत ने भी इसे अपनाया।
- भारत में संवैधानिक ओम्बुड्समैन का विचार सर्वप्रथम वर्ष 1960 के दशक की शुरुआत में कानून मंत्री अशोक

Scanned with CamScanner

कुमार सेन ने संसद में प्रस्तुत किया था।
- लोकपाल एवं लोकायुक्त शब्द प्रख्यात विधिवेत्ता डॉ. एल. एम. सिंघवी ने पेश किया।
- वर्ष 1966 में प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग ने सरकारी अधिकारियों (सांसद सदस्य भी शामिल) के विरुद्ध शिकायतों को देखने के लिए केंद्रीय तथा राज्य स्तर पर दो स्वतंत्र प्राधिकारियों की स्थापना की सिफारिश की थी।
- वर्ष 1968 में लोकसभा में लोकपाल विधेयक पारित

मलेशिया के साथ भारत ने भी इसे अपनाया।
- भारत में संवैधानिक ओम्बुड्समैन का विचार सर्वप्रथम वर्ष 1960 के दशक की शुरुआत में कानून मंत्री अशोक

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

कुमार सेन ने संसद में प्रस्तुत किया था।
- लोकपाल एवं लोकायुक्त शब्द प्रख्यात विधिवेत्ता डॉ० एल० एम० सिंघवी ने पेश किया।
- वर्ष 1966 में प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग ने सरकारी अधिकारियों (सांसद सदस्य भी शामिल) के विरुद्ध शिकायत को देखने के लिए केंद्रीय तथा राज्य स्तर पर दो स्वतंत्र प्राधिकारियों की स्थापना की सिफारिश की थी।
- वर्ष 1968 में लोकसभा में लोकपाल विधेयक पारित हुआ, लेकिन लोकसभा के विघटन के साथ ही यह कालातीत हो गया और इसके बाद से यह लोकसभा मे कई बार कालातीत हुआ।
- वर्ष 2011 तक विधेयक पारित करने के लिए आठ प्रयास किये गए, लेकिन सभी मे असफलता ही मिली
- वर्ष 2002 में एम० एन० वेंकटचलैया की अध्यक्षता में संविधान की कार्यप्रणाली की समीक्षा के लिए गठित आयोग ने लोकपाल व लोकायुक्तों की नियुक्ति की सिफारिश करते हुए प्रधानमंत्री को इसके दायरे से बाहर रखने की बात कही।
- वर्ष 2005 में वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने सिफारिश की कि लोकपाल का पद जल्द से जल्द स्थापित किया जाय।
- वर्ष 2011 में सरकार ने प्रणब मुखर्जी की अध्यक्षता में मंत्रियों का एक समूह भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने हेतु सुझाव देने तथा लोकपाल विधेयक के प्रस्ताव का परीक्षण करने के लिए गठित किया।
- अन्ना हजारे के नेतृत्व में 'भ्रष्टाचार के विरुद्ध भारत आंदोलन' ने केन्द्र में तत्कालीन UPA सरकार पर दबाव बनाया और इसके परिणामस्वरूप संसद के दोनों सदनों में लोकपाल व लोकायुक्त विधेयक, 2013 पारित हुआ।
- 1 जनवरी 2014 को राष्ट्रपति ने इसे अपनी सहमति दे दी और 16 जनवरी, 2014 को यह लागू हो गया

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

लोकपाल एवं लोकायुक्त (संशोधन) विधेयक 2016

- लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 2013 को संशोधित करने के लिए यह विधेयक संसद ने जुलाई 2016 में पारित किया।
- इसके द्वारा यह निर्धारित किया गया कि विपक्ष के मान्यता प्राप्त नेता के अभाव में लोकसभा में सबसे बड़े एकल विरोधी दल का नेता चयन समिति का सदस्य होगा।
- इसके द्वारा वर्ष 2013 के अधिनियम की धारा 44 में भी संशोधन किया गया जिसमे प्रावधान है कि सरकारी सेवा में आने के 30 दिनों के भीतर लोकसेवक को अपनी संपत्तियों और दायित्वों का विवरण प्रस्तुत करना होगा।

में लोकपाल व लोकायुक्त विधेयक, 2013 पारित हुआ।
- 1 जनवरी 2014 को राष्ट्रपति ने इसे अपनी सहमति दे दी और 16 जनवरी, 2014 को यह लागू हो गया।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

लोकपाल एवं लोकायुक्त (संशोधन) विधेयक 2016

- लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 2013 को संशोधित करने के लिए यह विधेयक संसद ने जुलाई 2016 में पारित किया।
- इसके द्वारा यह निर्धारित किया गया कि विपक्ष के मान्यता प्राप्त नेता के अभाव में लोकसभा में सबसे बड़े एकल विरोधी दल का नेता चयन समिति का सदस्य होगा।
- इसके द्वारा वर्ष 2013 के अधिनियम की धारा 44 में भी संशोधन किया गया जिसमें प्रावधान है कि सरकारी सेवा में आने के 30 दिनों के भीतर लोकसेवक को अपनी संपत्तियों और दायित्वों का विवरण प्रस्तुत करना होगा।
- संशोधन विधेयक के द्वारा 30 दिन की समय - सीमा समाप्त कर दी गई, अब लोकसेवक अपनी सम्पत्तियों और दायित्वों की घोषणा सरकार द्वारा निर्धारित रूप में एवं तरीके से करेंगे।
- यह ट्रस्टियों और बोर्ड के सदस्यों को भी अपनी तथा पति / पत्नी की परिसंपत्तियों की घोषणा करने के लिए दिए गए समय में भी बढ़ोतरी करता है, उन मामलों में जहाँ वे एक करोड़ रुपये से अधिक सरकारी या 10 लाख रुपये से अधिक विदेशी धन प्राप्त करते हों।

लोकपाल की संरचना

- लोकपाल एक बहु - सदस्यीय निकाय है जिसका गठन एक चेयरपर्सन और अधिकतम 8 सदस्यों से हुआ है।
- लोकपाल संस्था का चेयरपर्सन या तो भारत का पूर्व मुख्य न्यायाधीश या सर्वोच्च न्यायालय का पूर्व न्यायाधीश या असंदिग्ध सत्यनिष्ठा व प्रकांड योग्यता का प्रख्यात व्यक्ति होना चाहिए, जिनके पास भ्रष्टाचार निरोध नीति, सार्वजनिक प्रशासन, सतर्कता, वित्त, बीमा और बैंकिंग, कानून व प्रबंधन में न्यूनतम 25 वर्षों का विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव हो।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- आठ अधिकतम सदस्यों में से आधे न्यायिक सदस्य तथा न्यूनतम 50 % सदस्य अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति / अन्य पिछड़ा वर्ग / अल्पसंख्यक और महिला श्रेणी से होने चाहिए।
- लोकपाल संस्था का न्यायिक सदस्य या तो सर्वोच्च न्यायालय का पूर्व न्यायाधीश या किसी उच्च न्यायालय का पूर्व मुख्य न्यायाधीश होना चाहिए।
- गैर - न्यायिक सदस्य असंदिग्ध सत्यनिष्ठा व प्रकांड योग्यता का प्रख्यात व्यक्ति, जिसके पास भ्रष्टाचार विरोधी नीति, सार्वजनिक प्रशासन, सतर्कता, वित्त, बीमा और बैंकिंग, कानून व प्रबंधन में न्यूनतम 25 वर्षों का विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव हो।

- लोकपाल एक बहु - सदस्यीय निकाय है जिसका गठन एक चेयरपर्सन और अधिकतम 8 सदस्यों से हुआ है।
- लोकपाल संस्था का चेयरपर्सन या तो भारत का पूर्व मुख्य न्यायाधीश या सर्वोच्च न्यायालय का पूर्व न्यायाधीश या असंदिग्ध सत्यनिष्ठा व प्रकांड योग्यता का प्रख्यात व्यक्ति होना चाहिए, जिनके पास भ्रष्टाचार निरोध नीति, सार्वजनिक प्रशासन, सतर्कता, वित्त, बीमा और बैंकिंग, कानून व प्रबंधन में न्यूनतम 25 वर्षों का विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव हो।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- आठ अधिकतम सदस्यों में से आधे न्यायिक सदस्य तथा न्यूनतम 50% सदस्य अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति / अन्य पिछड़ा वर्ग / अल्पसंख्यक और महिला श्रेणी से होने चाहिए।
- लोकपाल संस्था का न्यायिक सदस्य या तो सर्वोच्च न्यायालय का पूर्व न्यायाधीश या किसी उच्च न्यायालय का पूर्व मुख्य न्यायाधीश होना चाहिए।
- और - न्यायिक सदस्य असंदिग्ध सत्यनिष्ठा व प्रकांड योग्यता का प्रख्यात व्यक्ति, जिसके पास भ्रष्टाचार विरोधी नीति, सार्वजनिक प्रशासन, सतर्कता, वित्त, बीमा और बैंकिंग, कानून व प्रबंधन में न्यूनतम 25 वर्षों का विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव हो।
- लोकपाल संस्था के चेयरपर्सन और सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष या 70 वर्ष की आयु तक है।
- सदस्यों की नियुक्ति चयन समिति की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।
- चयन समिति प्रधानमंत्री जो कि चेयरपर्सन होता है, लोकसभा अध्यक्ष, लोकसभा में विपक्ष के नेता, भारत के मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा नामित कोई न्यायाधीश और एक प्रख्यात न्यायविद से मिलकर गठित होती है।
- लोकपाल तथा सदस्यों के चुनाव के लिए चयन समिति कम से कम आठ व्यक्तियों का एक सर्च पैनल (खोजबीन समिति) गठित करती है।

लोकपाल खोजबीन समिति

- लोकपाल अधिनियम, 2013 के अधीन कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग उन अभ्यर्थियों की एक सूची बनाएगा जो लोकपाल संस्था का चेयरपर्सन या सदस्य बनने के इच्छुक हो।
- इसके बाद यह सूची उस प्रस्तावित आठ सदस्यीय खोजबीन समिति के पास जाएगी जो नामों की शॉर्टलिस्ट करेगी और प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में गठित चयन समिति के समक्ष प्रस्तुत करेगी।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- चयन समिति खोजबीन समिति द्वारा सुझाए गए नामों में से नाम चुन भी सकती है और नहीं भी चुन सकती।
- सितंबर, 2018 में सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय की पूर्व न्यायाधीश रंजना प्रकाश देसाई की अध्यक्षता में एक खोजबीन समिति गठित की थी।
- 2013 का अधिनियम यह भी प्रावधान करता है कि राज्य

विभाग उन अभ्यर्थियों की एक सूची ...
संस्था का चेयरपर्सन या सदस्य बनाने के इच्छुक हो।

- इसके बाद यह सूची उस प्रस्तावित आठ सदस्यीय खोजबीन समिति के पास जाएगी जो नामों को शॉर्टलिस्ट करेगी और प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में गठित चयन समिति के समक्ष प्रस्तुत करेगी।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- चयन समिति खोजबीन समिति द्वारा सुझाए गए नामों में से नाम चुन भी सकती है और नहीं भी चुन सकती।
- सितंबर, 2018 में सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय की पूर्व न्यायाधीश रंजना प्रकाश देसाई की अध्यक्षता में एक खोजबीन समिति गठित की थी।
- 2013 का अधिनियम यह भी प्रावधान करता है कि राज्य सरकारें इस अधिनियम के लागू होने के एक साल के अंदर लोकायुक्त का पद स्थापित करें।

लोकपाल का क्षेत्राधिकार एवं शक्तियाँ

- लोकपाल के क्षेत्राधिकार में प्रधानमंत्री, मंत्री, संसद सदस्य, समूह ए, बी, सी और डी अधिकारी तथा केंद्र सरकार के अधिकारी शामिल हैं।
- लोकपाल का प्रधानमंत्री पर क्षेत्राधिकार केवल भ्रष्टाचार के उन आरोपों तक सीमित रहेगा जो कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, सुरक्षा, लोक व्यवस्था, परमाणु ऊर्जा और अंतरिक्ष से संबद्ध न हो।
- संसद में कही गई किसी बात या दिए गए वोट के मामले में मंत्रियों या सांसदों पर लोकपाल का क्षेत्राधिकार नहीं होगा।
- इसके क्षेत्राधिकार में वह व्यक्ति भी शामिल है जो ऐसे किसी निकाय / समिति का प्रभारी (निदेशक / प्रबंधक / सचिव) है या रहा है जो केंद्रीय कानून द्वारा स्थापित हो या किसी अन्य संस्था का जो केंद्रीय सरकार द्वारा वित्तपोषित / नियंत्रित हो और कोई अन्य व्यक्ति जिसने घूस देने या लेने में सहयोग दिया हो।
- लोकपाल अधिनियम यह आदेश देता है कि सभी लोकसेवक अपनी तथा अपने आश्रितों की परिसंपत्तियों व देयताओं को प्रस्तुत करें।
- इसके पास CBI की जाँच करने तथा उसे निर्देश देने का अधिकार है।
- यदि लोकपाल ने कोई मामला CBI को सौंपा है तो

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

बिना लोकपाल की अनुमति के ऐसे मामले के जाँच अधिकारी को स्थानांतरित नहीं किया जा सकता।

- लोकपाल की जाँच इकाई को एक सिविल न्यायालय के समान शक्तियाँ दी गई हैं।
- विशेष परिस्थितियों में लोकपाल को उन परिसंपत्तियों, आमदनी, प्राप्तियों और लाभों को जब्त करने का अधिकार है जो भ्रष्टाचार के साधनों से पैदा या प्राप्त की गई हैं।
- लोकपाल को ऐसे लोकसेवक के स्थानांतरण या निलंबन की सिफारिश करने का अधिकार है जो भ्रष्टाचार के आरोपों

- लोकपाल अधिनियम यह आदेश देता है कि सभी लोकसेवक अपनी तथा अपने आश्रितों की परिसंपत्तियों व देयताओं को प्रस्तुत करे।
- इसके पास CBI की जाँच करने तथा उसे निर्देश देने का अधिकार है।
- यदि लोकपाल ने कोई मामला CBI को सौंपा है तो

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

बिना लोकपाल की अनुमति के ऐसे मामले के जाँच अधिकारी को स्थानांतरित नहीं किया जा सकता।
- लोकपाल की जाँच इकाई को एक सिविल न्यायालय के समान शक्तियाँ दी गई हैं।
- विशेष परिस्थितियों में लोकपाल को उन परिसंपत्तियों, आमदनी, प्राप्तियों और लाभों को जब्त करने का अधिकार है जो भ्रष्टाचार के साधनों से पैदा या प्राप्त की गई हैं।
- लोकपाल को ऐसे लोकसेवक के स्थानांतरण या निलंबन की सिफारिश करने का अधिकार है जो भ्रष्टाचार के आरोपों से जुड़ा है।
- लोकपाल को प्राथमिक जाँच के दौरान रिकार्ड को नष्ट करने से रोकने का निर्देश देने का अधिकार है।

सीमाएँ
- लोकसभा संस्था भारत की प्रशासनिक संरचना में भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई में बेहद जरूरी परिवर्तन बदलाव ला सकती है, लेकिन इसके साथ ही साथ उसमें कुछ खामियाँ और कमियाँ भी हैं जिन्हें दुरुस्त किये जाने की आवश्यकता है।
- संसद द्वारा लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 2013 पारित होने के पाँच वर्ष बाद किसी तरह से लोकपाल की नियुक्ति हो पाई, जो राजनीतिक इच्छाशक्ति में कमी का संकेतक है।
- लोकपाल अधिनियम में राज्यों से भी इसके लागू होने के एक साल के भीतर लोकायुक्त नियुक्त करने के लिए कहा गया है, परंतु केवल 16 राज्यों ने लोकायुक्त की स्थापना की
- लोकपाल राजनीतिक प्रभाव से मुक्ति नहीं है क्योंकि स्वयं नियुक्ति समिति राजनीतिक दलों के सदस्यों से गठित है।
- लोकपाल की नियुक्ति में एक प्रकार से चालाकी की जा सकती है क्योंकि यह निर्धारित करने का कोई मानदंड नहीं है कि कौन एक 'प्रख्यात न्यायविद' या 'सत्यनिष्ठा' का व्यक्ति है।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- वर्ष 2013 का अधिनियम व्हिसल ब्लोअर को कोई ठोस सुरक्षा नहीं देता। यदि आरोपी व्यक्ति निर्दोष पाया जाए तो शिकायतकर्ता के विरुद्ध जाँच शुरू करने का प्रावधान लोगों को शिकायत करने से हतोत्साहित ही करेगा।
- इसकी सबसे बड़ी कमी न्यायपालिका को लोकपाल के दायरे से बाहर रखना है।
- लोकपाल को कोई संवैधानिक आधार नहीं दिया गया है और लोकपाल के विरुद्ध अपील का कोई पर्याप्त प्रावधान नहीं है।
- लोकायुक्त की नियुक्ति से संबंधित विशिष्ट विवरण पूरी

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- वर्ष 2013 का अधिनियम व्हिसल ब्लोअर को कोई ठोस सुरक्षा नहीं देता। यदि आरोपी व्यक्ति निर्दोष पाया जाए तो शिकायतकर्ता के विरुद्ध जाँच शुरु करने का प्रावधान लोगों को शिकायत करने से हतोत्साहित ही करेगा।
- इसकी सबसे बड़ी कमी न्यायपालिका को लोकपाल के दायरे से बाहर रखना है।
- लोकपाल को कोई संवैधानिक आधार नहीं दिया गया है और लोकपाल के विरुद्ध अपील का कोई पर्याप्त प्रावधान नहीं है।
- लोकायुक्त की नियुक्ति से संबंधित विशिष्ट विवरण पूरी तरह से राज्यों पर छोड़ दिया गया है।
- कुछ सीमा तक CBI की कार्यात्मक स्वतंत्रता की आवश्यकता को इसके निदेशक की नियुक्ति में इस अधिनियम में संशोधन करके पूरा किया गया है।
- भ्रष्टाचार के विरुद्ध शिकायत उस तिथि से सात साल के बाद पंजीकृत नहीं की जा सकती जिस तिथि को ऐसी शिकायत में कथित अपराध किए जाने का उल्लेख हो।

सुझाव

- भ्रष्टाचार की समस्या से निपटने के लिए कार्यात्मक स्वायत्तता तथा मानव शक्ति की उपलब्धता दोनों मामलों में ओम्बुड्समैन (लोकपाल) संस्था को मजबूत किया जाए।
- स्वयं को सार्वजनिक जाँच का विषय बनाने के लिए इच्छुक एक अच्छे नेतृत्व के साथ-साथ अधिक पारदर्शिता, अधिक सूचना के अधिकार तथा नागरिकों और नागरिक समूहों के सशक्तिकरण की आवश्यकता है।
- लोकपाल की नियुक्ति ही स्वयं में पर्याप्त नहीं है। सरकार को उन मुद्दों को भी हल करना चाहिए जिनके आधार पर लोग लोकपाल की मांग करते हैं। मात्र जाँच एजेंसियों की संख्या में बढ़ोतरी करना सरकार के आकार में तो वृद्धि करेगा, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि इससे प्रशासनिक कार्यों में भी सुधार हो जाए।

Scanned with CamScanner

Daily Notes DATE

- इसके अलावा लोकपाल और लोकायुक्त उनसे वित्तीय, प्रशासनिक और कानूनी रुप से अवश्य स्वतंत्र होने चाहिए जिनकी जाँच एवं जिन्हें दण्डित करने के लिए उन्हें कहा जाता है।
- लोकपाल और लोकायुक्त नियुक्तियाँ पारदर्शिता से होनी चाहिए ताकि गलत प्रकार से लोगों के पदस्थापित होने की संभावना को कम किया जा सके।
- किसी एक संस्था या प्राधिकारी में अत्यधिक शक्ति के संचयन को टालने के लिए समुचित जवाबदेही व्यवस्था के साथ विकेंद्रीकृत संस्थाओं के बाहुल्य की आवश्यकता है।

वर्तमान लोकपाल संस्था की स्थिति

... की अध्यक्षता वाली चयन समिति ने इसी वर्ष

सुझाव

- भ्रष्टाचार की समस्या से निपटने के लिए वित्तीय स्वायत्तता तथा मानव शक्ति की उपलब्धता दोनों मामलों में ओम्बुड्समैन (लोकपाल) संस्था को मजबूत किया जाए।
- स्वयं को सार्वजनिक जाँच का विषय बनाने के लिए इच्छुक एक अच्छे नेतृत्व के साथ-साथ अधिक पारदर्शिता, अधिक सूचना के अधिकार तथा नागरिकों और नागरिक समूहों के सशक्तिकरण की आवश्यकता है।
- लोकपाल की नियुक्ति ही स्वयं में पर्याप्त नहीं है। सरकार को उन मुद्दों को भी हल करना चाहिए जिनके आधार पर लोग लोकपाल की मांग करते हैं। मात्र जाँच एजेंसियों की संख्या में बढ़ोतरी करना सरकार के आकार में तो वृद्धि करेगा, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि इससे प्रशासनिक कार्यों में भी सुधार हो जाए।

Scanned with CamScanner

Daily Notes — DATE

- इसके अलावा लोकपाल और लोकायुक्त उनसे वित्तीय, प्रशासनिक और कानूनी रूप से अवश्य स्वतंत्र होने चाहिए जिनकी जाँच एवं जिन्हें दण्डित करने के लिए उन्हें कहा जाता है।
- लोकपाल और लोकायुक्त नियुक्तियाँ पारदर्शिता से होनी चाहिए ताकि गलत प्रकार से लोगों के पदस्थापित होने की संभावना को कम किया जा सके।
- किसी एक संस्था या प्राधिकारी में अत्यधिक शक्ति के संचयन को टालने के लिए समुचित जवाबदेही व्यवस्था के साथ विकेंद्रीकृत संस्थाओं के बाहुल्य की आवश्यकता है।

वर्तमान लोकपाल संस्था की स्थिति

प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली चयन समिति ने इसी वर्ष मार्च के मध्य में सरकार का कार्यकाल समाप्त होने से कुछ ही दिन पहले सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायधीश पिनाकी चंद्र घोष देश के पहले लोकपाल के लिए किया, जिसे राष्ट्रपति ने विधिवत मंजूरी दे दी। लोकपाल में अध्यक्ष के अलावा चार न्यायिक और चार गैर-न्यायिक सदस्य भी नियुक्त किए गए हैं। न्यायिक सदस्यों में जस्टिस दिलीप बी. भोसले, जस्टिस प्रदीप कुमार मोहंती, जस्टिस अभिलाषा कुमारी और जस्टिस अजय कुमार त्रिपाठी है। इसके साथ SSB की प्रमुख अर्चना रामसुंदरम और महाराष्ट्र के पूर्व मुख्य सचिव दिनेश कुमार जैन और इंद्रजीत प्रसाद गौतम को गैर-न्यायिक सदस्य बनाया गया है। इसके साथ ही देश में लोकपाल नाम की संस्था अस्तित्व में आ गई है।

Scanned with CamScanner